श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २१

श्रीशौ वन्दे

सप्त–पाठि

श्रीशिव–

महिम्न-स्तोत्रम्

श्रीमद्गन्धर्वराजपुष्पदन्ताचार्य्यमुखकमलनिर्गतम्

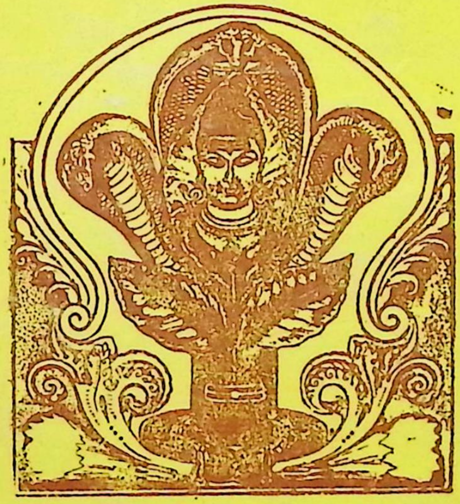

38
SS
3726

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
राणसी (भारत)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२१

श्रीशौ वन्दे

सप्त–पाठि

श्रीशिव–

महिम्न-स्तोत्रम्

श्रीमद्गन्धर्वराजपुष्पदन्ताचार्य्यमुखकमलगीतम्

हरिहरपक्षीय-मधुसूदनीटीकासमलङ्कृतम्

तदनु च

त्रिपाठ्युपपद-पण्डितश्रीनारायणपतिशर्म्म-

विरचित-

संस्कृतटीका १. संस्कृतपद्यानुवाद २. भाषाटीका ३.

भाषापद्यानुवाद ४. भाषाबिम्ब- ५.

प्रभृति-

पञ्चमुख्याख्यया व्याख्यया सम्वलितम्

तथा शक्तिमहिम्नस्तोत्रसहितम्

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४०
मूल्य : रु० ३०-००

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
इस ग्रन्थ के परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल पाठ
एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार
प्रकाशक के अधीन हैं ।

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० ८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
21
****

ŚRĪŚIVA

MAHIMNA STOTRA

By

PUṢPADANTĀ CĀRYA,

with a Commentary of Madhusūdana–Sarasvatī,
and five other commentaries of

Pt. ŚRI NĀRĀYAṆA PATI ŚARMA TRIPĀTHĪ
and
ŚAKTI–MAHIMNA–STOTRA

JKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
'isher and Distributor of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139
adau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI–221001 (INDIA)

© Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi

Phone : 65889

Second Edition : 1983

Price : Rs. 30-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 84

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

श्रीशौ वन्दे ।

निवेदन पत्र

"विश्वनाथ !

मम नाथ ! !

पुरारी ! ! !

त्रिभुवन महिमा विदित तुम्हारी" ।

हे अनाथ नाथ !

आपकी महिम्नस्तुतिकी ये सब टीकायें केवल अपनी बुद्धि और वाणी के शुद्ध करनेकी इच्छा से लिखी गईं हैं—अतएव एक मात्र यही निवेदन है कि आपने जब महिम्नस्तोत्रको अपनाया है तो इन टीकाओंकोभी दया करके अपना लीजिए क्योंकि—

"जौ बालक कह तोतरि बाता,

मुदित होहिं सुनि गुरु पितु माता ।" (तु० रा०)

बस और मैं क्या कह सकता हूं ।

आपका परमाधम—

नारायणपतिशर्म्मा ।

समर्पण—

मिदम् ।

हे विश्वनाथ ! करुणाकर ! दीनबन्धो !
शम्भो ! त्वदीयमहिमस्तुतिसेविनी यम् ।
टीका स्तु पञ्चमुख ! पञ्चमुखी मुदे ते,
भक्त्या र्पिता प्रणतपाल ! कपालमाल ! ॥ १ ॥
हे भूतभावन ! महेश्वर ! भूतनाथ !
भूताधिवास ! भव ! भूत-विभूतिभूते ! ॥
मत्पञ्चभूतमय गात्र-पवित्रतायै,
टीकां सुपञ्चमुख ! पञ्चमुखीं गृहाण ॥ २ ॥
पञ्चमुख्यार्थनिरतां, पञ्च-मुख्या-र्थ बोधिनीम् ।
पञ्चमुख्यभिधां व्याख्यां, तुभ्यं पञ्चमुखा ! र्पये ॥ ३ ॥

भवदीय किङ्करतेच्छुः—

त्रिपाठिनारायणपतिशर्म्मा—

काशी-वासी

श्रीशौ वन्दे ।

भूमिका-

में

प्रायः कवि और काव्यके विषयकी कुछ चर्चा लिखी जाती है पर इस महिम्नस्तोत्रके रचयिता श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य्य गन्धर्वराज हैं जिनका पता लगाना हम सब नरदेही लोगों के लिये बडाही कठिन है फिरभी जो कुछ कथा वार्ता उपलब्ध हो सकी है वह उनके वृत्तान्त "पुष्पदन्तो-दन्त" में लिखदीगई है जो इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित भी करदी जाती है।

श्री महादेवके इस महिम्नस्तोत्रका वास्तविक नाम "धूर्जटि-स्तोत्र" है जैसा कि इसीमें कहा है "धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्"-(३४) पर ग्रंथके आदिमें "महिम्नः" पदका प्रयोग होनेसे लोकमें महिम्न-स्तोत्रही नाम प्रचलित है-क्योंकि सामवेदकी तलबकार शाखाकी "केनोपनिषद्"-भी अध्याय और प्रथम मन्त्र के आदि में "केन" पद पडनेहीसे तलबकारोपनिषदके पर्य्याय (बदले) में "केनोपनि-षद्" प्रसिद्ध है-इसी प्रकारसे "श्यामारहस्य" की स्वरूपस्तुतिभी आदि में कर्पूर शब्द पड़जानेहीसे "कर्पूरस्तुति" कही जाती है। किसी किसी पुस्तकके आदिमें "श्रीपुष्पदन्त उवाच" यह पदभी-पाया जाता है, यह वाक्य "शैवागम" किंवा "शिवरहस्य" का है, क्योंकि उक्त ग्रंथोंमें पहिले कविकी कुछ कथाका वर्णन करके तब यह अनादि स्तुति उद्धृत की गई है इससे इस स्तोत्रकी परम-प्राचीनता सिद्ध है। इस स्तोत्रके बत्तीसही ३२ श्लोक 'श्रीपुष्पदन्त-मुखपङ्कजनिर्गत" (४०) हैं इनके आगे फलस्तुति वाले श्लोक प्रायः उक्त शैवागम अथवा शिवरहस्यके हैं—क्योंकि उन श्लोकोंमें बहुत कुछ उलट फेर अथवा न्यूनता अतिरिक्तता (कमी बेशी) पाई जाती है, पर आजकल सर्वत्र ही महिम्नस्तोत्रके श्लोकोंकी संख्या चालीसही ४० मानी जाती है, अत एव इस ग्रंथमेंभी उन्ही चालीस श्लोकों पर "पञ्चमुखी टीका" अर्थात् संस्कृतटीका १ संस्कृत पद्या-

नुवाद २ भाषाटीका ३ भाषापद्यानुवाद ४ तथा भाषाबिम्ब ५ नाम- की पाँच टीकायें इसी इच्छासे लिखी गई है कि संस्कृत अथवा भाषाके प्रेमी लोगोंको कुछ आनन्द प्राप्त होवे और अपनीभी बुद्धि और वाणी पवित्र होसके जैसा कि इसीमें कहा है—

"मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः ।
पुनामी त्यर्थेऽस्मि न्पुरमथन ! बुद्धि र्व्यवसिता" (३) ॥

इन संस्कृत और भाषा टीकाओंमें मूल श्लोकोंके जो पद उद्धृत किये गये हैं वे कोष्ठमें (महिम्नः) रक्खे गये हैं और जहां कहीं कोई पद ऊपरसे लगाना पडा है वहां खडाकोष्ठ [ ] लगाया गया है उक्त चालीस श्लोकोंसे भिन्न और और भी जो स्फुट श्लोक मिलें हैं वे भी पद्यानुवादके साथ इसी लेखके अन्तमें लगा दिये गये हैं ।

इस स्तोत्रको शैव सम्प्रदायके लोग तो श्रुतिके समानही मानते हैं वरन वेदाध्ययनकी परिपाटीके अनुसार रात्रिमें इसकाभी पाठ नहीं करते पर अन्य लोगोंमें भी इसका कुछ कम आदर नहीं होता- मेरे पूर्वपुरुष पण्डित रामानन्द त्रिपाठीजीने अपने "विराड्विवरण" नामकग्रंथमें जो कि संवत् १७ १७ वैक्रममें बनाथा इस महिम्नस्तोत्रके-"असित गिरिसिमं स्यात्" (३२) श्लोकको स्मृति करके लिखा है ।

इस स्तोत्रकी कविता अथवा रचनाशैलीकी उत्तमता इतनेहीमें समझ लेना चाहिए कि इसी स्तोत्र के कर्त्ता पुष्पदन्ताचार्य्यने वररुचि अथवा कात्यायन होकर बडेसे बडे अनेक ग्रन्थ बनाये वरन महर्षि पाणिनिके रचित व्याकरण शास्त्रके सूत्रोंकी न्यूनताभी अपना वार्तिक बनाकर मेटादिया पर जैसा आदर इस बत्तीस ३२ श्लोकके स्तोत्रसे उनको प्राप्त हुआ वह अलौकिकही नहीं वरन अन्य ग्रन्थोंसे अलभ्यही बनारहा वास्तवमें यह उन्हीका कथन बहुत ठीक प्रतीत होता है कि—

"स्थिरायां स्त्वद्भक्ते स्त्रिपुरहर ! विस्फूर्जित मिदम्" (११)

इसस्तोत्रके-"किमीहः किङ्कायः"(५) इत्यादिलेखों को देखकर कोई कोई इसे बौद्ध अथवा चार्वाक इत्यादिके समयका मानना चाहते हैं, परन्तु उन लोगोंको स्मरण रखना चाहिए कि शाक्यमुनि के पहिले-

हीसे नास्तिक मत प्रचलित था वैदिक मत आस्तिकोंका था और उसके विरोधी लोगही नास्तिक थे उन्ही लोगोंके मतावलम्बी दैत्य राक्षसादिके साथी बहुतेरे अनार्य्य म्लेच्छ इत्यादि हुए फिर उन्हींमें चार्वाकभी बार्हस्पत्य मतका प्रचारक हुआ और चार्वाक दर्शनका कर्त्ता बना-जोहो पर इन प्रमाणोंसे इस-"अनौपम्यं मनोहारि" (२९) स्तोत्रका समय नहीं निर्णीत होसकता, अत एव इस विषय में माथापच्ची करना व्यर्थहीसा जान पड़ता है इसलिये यह भार केवल पाठकोंके विचार पर निर्भर कर दिया जाता है, आशा है कि वे लोगभी यदि निरंतर उद्योग करते रहेंगे तो कभी न कभी यह त्रुटि (कसर) पूरी पड जावेगी।

इस छोटेसे स्तोत्र पर अनेक टीकायें यथा समय बनचुकी हैं पर वे सब अब प्रायः अलभ्य सी होगई हैं फिरभी कइक टीकायें प्रचलित हैं इन में ३२ श्लोकों पर पण्डितकोमलरामजीकी सुबोधिनीटीका है जोकि साधारण एवं संक्षिप्त होने परभी मूलार्थ को प्रकट करदेती है-उसीके अन्तका यह श्लोक प्राचीन टीकाओंकाभी पत बतलाता है—

"छात्राणां सुखबोधाय, नाना टीका नुसारतः।
इयं कोमलरामेण, कृता टीका सुबोधिनी॥"

और दूसरी टीका "अद्वैतसिद्धि" नामक वेदान्तविषयक ग्रंथके रचयिता तथा "शारीरक सूत्र" एवं "गीता"-इत्यादिके भाष्यकार काशीवासनिरत यतिवर "मधुसूदन सरस्वती" जीकी शिवविष्णवर्थक व्याख्या "मधुसूदनी टीका" के नामसे प्रसिद्ध है इस में ३१ श्लोकों पर हरपक्ष और हरिपक्षकी दुहरी टीका लिखी गई है। यह टीका बहुत उत्तम और विद्वत्तापूर्ण होने से विद्वान् लोगोंके देखने योग्य हैं-अतः यही टीका इसग्रंथ में मूल श्लोकों के बाद रक्खी गई है-इस के भी आदिका श्लोक अन्य टीकाओं की सूचना देता है—यथा—

"विश्वेश्वरं गुरु नत्वा, महिम्नाख्यस्तुतेरयम्।
पूर्व्वाचार्य्य कृतव्याख्या-सङ्ग्रहः क्रियते मया॥"

परन्तु स्वामीमहाराजने अन्त में अपनीटीका को टीकान्तर में लेजाने वालों को मनाकर दिया है—

यथा—"टीकान्तरं कश्चन मन्दधी रितः,
सारं समुद्धृत्य करोति चे त्तदा ॥
शिवस्य विष्णो र्द्विजगोसुपर्वणा—
मपि द्विषद्भाव मसौ प्रपद्यते ॥ ५ ॥" (*)

अस्तु मदृतामाज्ञा अशोचनीया तो होतीही है परन्तु विचारणीय विषय यह है कि स्वयं तो—"पूर्व्वाचार्य्यकृतव्याख्या—संग्रहः" किया जावे और दूसरोंको बहुत बड़ा शपथ दिया जावे यह कैसी बात है—? सम्भव है कि किसी दूसरे ग्रन्थमें इस टीका के सारका समुद्धार करनेके लिये ऐसे उच्चकोटिके विद्वानने रोककिया हो क्योंकि "भामिनीविलास" के अन्तमें पण्डितराज जगन्नाथजीने भी इसी भावको प्रकट किया है यथा—

'दुर्वृत्ता जारजन्मानो, हरिष्यन्ती ति शङ्कया ।
मदीय—पद्यरत्नानां, मञ्जूषैषा मया कृता ॥"

जो हो नवीनटीकाकारको तो झखमारकर गुरुस्थानापन्न प्राचीन टीकाकारोंका अनुसरण अवश्यही करना पड़ता है—इससे इस पंचमुखीटीकान्तर्गत भाषा टीकामें कहीं कहीं स्वामीजीकी सूक्तियोंका सहारा लिया गया है और "त्रयी सांख्यं" (७) परतो विशेषरूपसे अनुवाद करना पड़ा है इसके लिये मैं उनकी पवित्र आत्मासे क्षमाप्रार्थी हूं । क्योंकि इस साहस से भाषाभाषियोंकोभी उसका रसास्वादन मिलसकेगा । तीसरे टीकाकार ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी हैं उन्होंने लिखा है कि—

"यद्यपि विततव्याख्या, मधुसूदनप्रभृतिभिः पुराकारि ।
तथापि बालहिताय, संक्षिप्ता साऽधुना मया क्रियते" ॥ १ ॥

और फिर समाप्ति पर यह लिखते हैं—

"महिम्नाख्य स्तवनस्य, टीकेयं सुमनोरमा ।
ब्रह्मानन्देन संक्षिप्ताऽकारि तुष्यन्तु सज्जनाः ।"

इन सब उपर्य्युक्त टीकाकारोंके लेखोंसे यह बात भली भांतिसे स्पष्ट है कि ये सब टीकायें अनेक पुरातन टीकाओं को देखभालकर लिखी गई हैं, इनसे भिन्न कोई एक शिवरामी टीकाभी बनी है जिसमें एक अर्थ शिवपक्षमें और दूसरा रामपक्षमें

(*) इस पद्यका क्षेपक होनाभी सम्भव है ।

लगाया गया है पर वह टीका मुझे नही मिली—इन सब संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी इसकी अनेक टीकायें गद्य और पद्यकी बनी एवं बहुतेरी छपभी चुकी हैं केवल हिन्दीही नहीं वरन भारतवर्ष भरके प्रत्येक प्रान्तकी अवान्तर भाषाओं में भी (१) इस स्तोत्र पर अनेक टीका टिप्पणियां लिखी गई हैं और वे सब प्रायः उन सब प्रान्तों में सादर प्रचलित हैं—कारण यही हैं कि यह यद्यपि श्री महादेवजीका स्तोत्र है पर प्रत्येक सम्प्रदाय अथवा सबी मतावलम्बियोंके कामका है इसीसे इस देशके प्रत्येक प्रान्तों में महिम्नका बड़ा प्रचार है—एक यह बात भी इस की प्राचीनताका विशेष द्योतक है।

इस स्तोत्रके अन्त में यद्यपि एक श्लोक हरिणी छन्द एवं दो पद्य मालिनी छन्दके हैं, पर इसमें मुख्यतः शिखरिणी छन्दहीकी प्रधानता है—सम्भवहै कि शिखरिणी—छन्दका प्रयोग पहिले पहिल इसी स्तोत्रमें हुआहो, क्योंकि इसी स्तोत्रकी देखादेखी और भी अनेक महिम्नस्तोत्रोंका निर्माण हुआ है जिनमें यही शिखरिणी छन्द पाया-जाता है—शिवमहिम्न १ विष्णुमहिम्न २ गणेशमहिम्न ३ राममहिम्न ४ एवं कालिका महिम्न ५ इत्यादि सबी शिखरिणी छन्दके रंगमें पगे हैं इसीसे कोई कोई इस छन्दको "महिम्न छन्द" भी कहा करते हैं—बात यह है कि जब कोई अनूठाग्रंथ बन जाता है तो उसका अनुकरण करने वाले अवश्यही खड़े होजाते हैं, जैसे श्रीमद्भगवद्गीताके जोड़ (आधार) पर—ईश्वरगीता और व्यासगीता, कूर्मपुराणमें, अगस्त्यगीता तथा रुद्रगीता, वाराहपुराणमें, शिवगीता, पद्मपुराण में रामगीता अध्यात्मरामायणमें और कपिलगीता, अष्टावक्रगीता—एवं अवधूतगीता आदि अनेक गीतायें उदय होगईं योंही रावणकृत शिवतांडवके देखादेखी मेरे पूर्वजपण्डित रामानन्दत्रिपाठीजीका रुद्रतांडव तथा कृष्णतांडव और कालीतांडव आदि बनते गये और महाकवि कालिदासजीके "मेघदूत" काव्य बनने पर "हंसदूत" "कोकिलदूत" आदिकाव्योंका प्रादुर्भाव होगया उसी प्रकारसे इस महिम्नस्तोत्रनेभी अनेक सुकवियोंसे अनेक देवी-

---

(१) लखनऊके कान्यकुब्ज प्रकाशयन्त्रालयमें एक उर्दू और हिन्दीकीटीका सं० १९४३ वै० की छपी मुझे छुन्नाजीकर्मकाण्डीसे मिली है।

देवतोंके महिम्नस्तोत्र बनवाडाले बातभी ठीकही है–महिमाका गाया जानाही सर्वत्र प्रसिद्ध है, और यह स्तोत्रभी ऐसे वैसे जन साधारणका नहीं वरन एक गन्धर्वराजाचार्य्यका रचाहै–फिर अबतक सङ्गीतविद्याके रसिक लोग प्रायः इस स्तोत्रको गाते तथा वीणा श्रीतार (वीन–सितार) आदि बाजोंमें बजाते हैं सम्भव है कि इसी स्तोत्रने महिमागानेकी प्रथा (चाल) चलाई हो तो कोई आश्चर्य नहीं है इसीसे पुस्तककी सहायता त्यागकर एकाग्र–चित्त हो इस स्तोत्रके कण्ठस्थही पाठ करनेका उल्लेख किया गया है–यथा

"कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन ।
सुप्रीणितो भवति भूतपति र्महेशः" (४०)

श्रीमहादेवजीकी जिन कथाओंको पुराणोंके कइक अध्यायों में वर्णन किया गया है उनको इस स्तोत्रके एक एक श्लोकोंमें जिस उत्तमता के साथ दर्शाया है उसे सहृदय विज्ञभक्तजनही समझ सकते हैं-अस्तु इसस्तोत्रके श्लोकोंकी अकारादि-सूचीमें जहां जहांकी कथायें मिल सकी हैं वे पुराणादिकी सूचनाके साथ लगादी गई हैं आशा है कि कदाचित् कोई उनकाभी मिलान करेगा तो विशेष आनन्द प्राप्त होसकेगा—

इस महिम्नस्तोत्रके अन्तमें तीन श्लोक अर्थात् ४१ । ४२ । ४३ भी लगादिये गये हैं क्योंक प्रायः उनमें किसी किसीका कोई कोई पाठभी करते हैं और तद्भिन्न अन्यभी तीन श्लोक हैं जो कि सानुवाद लिखदिये जाते हैं—

यथा—इत्येषा वाङ्मयी पूजा, श्रीमच्छङ्करपादयोः ।
अर्पिता तेन देवेशः (मे देवः) प्रीयतां मे सदाशिवः ॥
(परमेश्वरः) ४१

वाचामय पूजा यही, अरपौं सिव पद मांहि ।
श्रीपरमेश्वर (पारवतीपति) याहिते, मो पै नित हरखांहि ॥ ४१॥
तव तत्त्वं न जानामि, कीदृशोऽसि महेश्वर !
यादृशोऽसि महादेव ! तादृशाय नमो नमः ॥ ४२ ॥
जानौ तुमरो तत्त्व नहि, कस हौ गिरिजानाथ !
जैसो हौ तैसो नमौं, महादेव धरि माथ ॥ ४२ ॥

एककालं द्विकालं वा, त्रिकालं यः पठे न्नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः, शिवलोके महीयते ॥ ४३ ॥
एकवार दुइवेर इहि, पढ़ त्रिकाल नर जोय ।
सबहि पापते छूटिकै, सिवपुर पूजित होय ॥ ४३ ॥

शिवरहस्यमें इस महिम्नके सर्वोत्तम बत्तीसवें (असित गिरिसमं ३२) श्लोकके स्थान पर निम्न लिखितश्लोकों को लिखा है पर इसका क्षेपक होना माननाही पडेगा क्योकि स्कन्दपुराणीय शिवरहस्यमें तो २७ । २८ श्लोकोंके मध्यमें ये दो श्लोक देखपडते हैं और विचार करने पर असंगत और सर्वथा अप्रासङ्गिक जान पडते हैं— क्योंकि २६वेंसे–लेकर २९वें श्लोकतक यद्यपि पद्य पृथक् हैं पर कलापककी भांति चारोहीके संघटित करने पर अष्टमूर्त्ति–मन्त्रोंका उद्धार प्रकार टीकामें दिखाया गया है, तदनुसार इन दोनोश्लोकोंका मध्यमें घुसजाना वैसाही अनुचित ज्ञातहोता है जैसे हर–गौरीके वार्तालापमें हमारे कविपुष्पदन्ताचार्यजीका प्रवेश हुआ था (१) अस्तु जो हो पर श्लोकों को तो श्रवणगोचर करना आवश्यक है क्योंकि शिव स्तुति है—

सतां वर्त्म त्यक्त्वा श्रुतिसमधिगम्यं सहभुवं,
घृणा मप्युन्मूल्य स्वजनविषयस्नेहगुणिताम् ।
द्विजः कृत न्पादे पितर मथ राद्धे त्वयि विभो !
मनुष्यत्वं सद्य स्त्रिदशपरिणामेन विजहौ ॥ १ ॥
वपुः प्रादुर्भावा दनुमित मिदं जन्मनि पुरा,
पुरारे ! न क्वापि क्षणमपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नम न्मुक्तः सम्प्रत्य ह मतनुगर्वाद (रग्रेप्य) नतिसा—
नितीश ! क्षन्तव्यं तदिद मपराधद्वय मपि ॥ २ ॥

इनकाभी पद्यानुवाद लेलीजिए—

तजिकै पथ सज्जन साधुनकै,
जिहि वेद पुरान भलो बतलावत ।
करि दूरि दया सहजौ अपनी,
निज लोग सनेह सनी मन भावत ॥

---

(१) देखिए "पुष्पदन्तो दन्त" पृ० ३य, ।

द्विज कोउ पिता पद पंकज काटि
विभो शिव शंकर ! तोहि रिझावत ।
तुरतै तनु मानुषके बदले
सुरदेह लह्यो महिमा समुझावत ॥ १ ॥

वपु धारनते अनुमानत हौं,
नहिं पूरब जन्महि कीह्न प्रनामू ।
त्रिपुरान्तक ! मैं तुमको कबहूं
सब सोचि फिरौं मनही मन ठामू ॥
नमते अब मुक्त विदेह भयौं,
करिहौं नहि आजुते फेरि प्रनामू ।
अपराध हमार छमो यह दोय,
करौं विनती जगदीस ! निकामू ॥ २ ॥

इस दूसरे श्लोकको अलङ्कारविषयक प्रसिद्ध "कुवलयानन्द" नामक ग्रंथमें भी उद्धृत किया है यों ही एक पद्य यह भी दृष्टि गोचर होता है—

जातस्य जायमानस्य, गर्भस्थस्यै व देहिनः ।
माभूद्य तत्कुले जन्म, यत्र शम्भु र्न देवता ॥
जे जनमे वा होंहिगे, गर्भमें रहै (जौ) कोय ।
इष्ट देव जहँ शिव नहीं, तहां जन्म नहिं होय ॥

अच्छा अब मैं पाठकोंकी सेवामें "असितगिरिसमं" (३२) का भी कुछ अनुवाद समर्पण कर देता हूं आशा है इसका आस्वादनभी स्यात् रुचिकर हो—

"असितगिरि समं स्या त्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्र मुर्व्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानो मीश ! पारं न याति (३२)

कज्जल कज्जल-पर्वतको करि,
सज्जल सिंधुवनै मसिदानी
लेखनि कल्प तरूनकि डारिन,
पत्र जहां पृथिवीहि बखानी ।

लेकरिके इनको निसि वासर,
तो गुन लेखन मांहि सिरानी।
पार न पाइसकी जव सारद
ईश! तवै अतिसै अकुलानी॥ ३२॥

अच्छा एक नमूना उर्दूदां लोगोंकी जवांका है—
दवायत वने जवकि सारा समुन्दर,
वने रोशनाई बड़े नील-गिरकी।
जिमी तख्त कागद लिखै शारदा नित्
नहीं खातमा हो तुमारे गुनों का॥ ३२॥

अब आजकल अंग्रेजीदां विद्वानोंकी भी वात बहुत चढ़ी वढ़ी समझी जाती है जरासी इनकी भी वानगी देखनी चाहिए—
सी इंकपाट् इंक हो नीलगिरका,
वनै य्येन् कलपट्रीके जव ब्रेंचका।
करै राइटिंग शारदा हर मिनटमें
नहीं (नाट्) एंड पावै तुमारे गुनोंमें॥ ३२॥

बंगलाभाषाकी हिन्दुपत्रिकाके वर्ष १७ संख्या ४ से

उद्धृत-वङ्गानुवाद

हे ईश! नीलाद्रि मसी, सिन्धु मसी पात्र,
कल्पतरु शाखा हय लेखनीठि तत्र।
पृथ्वी यदि पत्र हय, एई उपादान चय,
नियै यदि सरस्वती सदा लिखे यान,
तथापि तव गुणेर अन्त नहि पान॥ ३२॥

योंही यदि ढूंढ खोज की जाय तो अनेक भाषा भाषियों की सूक्तियों का संग्रह हो सकता है परन्तु पाठक महोदयों का जी ववड़-वाय देना ठीक नहीं इससे अब इस लेख की इति श्री कर देना आवश्यक है।

अन्त में सविनय निवेदन है कि भूल चूक होना मनुष्य स्वभाव सुलभ विषय है। अतः इस छोटे से स्तोत्रकी टीका आदि में जो कुछ त्रुटियां रह गई हैं उन्हें हमारे विज्ञ पाठकगण सुधारनेकी दया अवश्य ही दरसावेंगे और इस भगवत्स्तुति को घीका लड्डू टेढ़ा भी होने पर स्वादिष्ट ही समझने की नीति का अवलम्बन करेंगे। अतः भाव और भाषा की अशुद्धियों के शोधन का भार तो पाठकों ही के आधीन है पर अक्षरोंका संशोधन शुद्धा शुद्ध पत्र द्वारा कर दिया गया है कृपया यथा स्थान पर देख लेने की प्रार्थना है।

किमधिकमधिकज्ञेषु—शम्।

श्रीकाशी धाम
१९६६ सं०
शिवरात्रि।

निवेदक—
महिम्नस्तोत्र-प्रेमियों का-
किंकर,
त्रिपाठि नारायणपति शर्मा।

विशेष—यह कि जब शिव-शक्तिका संयोग नित्य है तो "शिव-महिम्न स्तोत्र के" साथ "शक्तिमहिम्नः स्तोत्रका" संयोजित होना उपयुक्त समझ पड़ने से शिखरिणी छन्द में न होनेपर भी इस ग्रन्थ का सहयोगी वा सहपाठी रक्खा जाना आवश्यक हुआ है।

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

गन्धर्वराज श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य्यजी का

वृत्तान्त ।

श्री जगदीशकी लीला अपरंपार है, उसकी क्या इच्छा है ? इसे वही जानता है दूसरेकी क्या सामर्थ्य है जो बता सके, देखिए कभी पौर्वीय जनपदवासियोंका अभ्युदय होता है तो सारा संसार उन्हींका अनुकरण करने लगता है जैसाकि कहा भी है—"गतानुगतिको लोकः ।" अस्तु आजकल पाश्चात्य देशहीकी दशा सुधरी है अतएव सबीकी इच्छा पाश्चात्य रीतियोंही पर लालायित होने लगती है,—आज एकही बात का उदाहरण (नमूना) दिखलाना चाहता हूं, पाश्चात्यरीति है कि प्रत्येक ग्रंथमें चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा हो पर ग्रंथकारका जीवन-चरित और कुछ समय इत्यादिकी भी चर्चा अवश्य लिख दी जाती है—बस इसी प्रथाके अनुसार आजकल इस भारतवर्षमें भी वही चाल निकल पड़ी है, वास्तवमें यह रीति प्रशंसनीय है। पर अड़चनकी बात तो यह हो जाती है कि—पाश्चात्य ग्रंथकारलोग प्रायः अभी दोसहस्राब्दियोंके अन्तर्गत हैं अत एव उन लोगोंका इतिवृत्त संग्रह करनेमें एवं काल-निर्णीत होनेमें विशेष प्रयास नहीं उठाना पड़ता। पर इस देशके प्राचीन कवियोंका पुरातत्त्व अन्वेषण करनेमें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अन्य देशीय आधुनिक विद्वान लोग जो इस देशके ग्रंथकारोंका निर्णय करने लगते हैं तो उनके विचारमें यहांके "आदि कवि"—भगवान वाल्मीकि अथवा वेदव्यासभी-(हजरत) ईसाके पूर्व छठीं किंवा आठवीं शताब्दीके बताये जाते है, और कहांतक कहा जावे—अपौरुषेय वेदभी तीन सहस्र वर्षके भीतरही ठहराये जाते हैं, तो कहिए इस ऊटपटांग प्रलापसे निर्णय होना तो दूर रहा बरन अगाध संशयरूपी ह्रदमें गोतें लगाने पड़ते हैं—सच है जब कि यह सृष्टि ही अभी पांच सहस्र वर्षके भीतरकी

समझी जाती है तो इसके पहिले—"आसीदिदं तमोभूतं" से भिन्न दूसरा क्या कहा जा सकता है ? जो हो, पर विचारकी दृष्टिसे देखा जावे तो जबसे इस देश पर विदेशीय विधर्मी यवन-म्लेच्छादिकोंके आक्रमण होने लगे तबसे यहांके कितनेही संस्कृत भाषाके अपूर्व ग्रंथरत्न खो गये अब उनका मिलना कठिनही नहीं बरन सर्वथा असंभव हो गया है, इसीसे निर्णय करनेके लिये जितनी सामग्री (मसाला) की अवश्यकता पड़ती है वह सब नहीं प्राप्त हो सकती, तो बतलाइये कि समयका निर्णय कैसे किया जावे ? क्योंकि आज मैं जिसका उल्लेख करना चाहता हूं—बहुत ढूँढने पर भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ जिससे समयका ठीक ठीक निर्णय कर दिया जावे। अब जीवन चरितके विषयमें यह वक्तव्य है कि "कथा सरित्सागरमें" जो कुछ पुष्पदन्तका वर्णन पाया जाता है, वह उनके दूसरे जन्म की कथा है, जब कि वे वररुचिके नामसे प्रसिद्ध हुए थे, और उन्हीका उपनाम कात्यायनभी पड़ा था, जैसा कि उक्तग्रंथके द्वितीय तरंगका प्रथम श्लोक देखनेसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। यथा—

"ततः स मर्त्यवपुषा, पुष्पदन्तः परिभ्रमन्।
नाम्ना वररुचिः, किञ्च कात्यायन इतिश्रुतः ॥"

इस श्लोकमें "मर्त्यवपुषा"-कहनेहीसे पुष्पदन्तका मनुष्य योनिसे भिन्न अर्थात् गन्धर्व्वराज होना प्रकट है—उपर्युक्त "कथा सरित्सागरके" प्रारम्भहीमें "कथापीठ नामक" प्रथम लम्बकके आठ तरंगोंमें श्रीपुष्पदन्तकी कथा विस्तार पूर्वक वर्णित है, उसी कथा भागको संक्षिप्त रूपसे अपने प्रेमी पाठकोंके अवलोकनार्थ उद्धृत कर देता हूं।

एकबार परम रमणीय कैलास शिखर पर जगदम्बा पार्वतीजीके आग्रहवश उन्हींका मान छुड़ानेके लिये भगवान शंकरजी अनेक प्रकारके विचित्र इतिहास कहने लगे। उस वेला नन्दी नामक गण इस लिये द्वार पर बैठाया गया था कि कोई भी भीतर नहीं आने पावे। इसी में—

"प्रसादवित्तकः शम्भोः, पुष्पदन्तो गुणोत्तमः।
न्यषेधि च प्रवेशोऽद्य, नन्दिना द्वारि तिष्ठता ॥ १ ॥ ४९ ॥

पुष्पदन्त नामक महादेवजीका कृपापात्र गण बिना कारणही द्वार पर रोक टोक देखकर अपने योगबलसे भीतर घुस गया। और वहाँ पर पहुँच कर सातों विद्याधरोंकी अद्भुत कथा सुनता रहा, तदन्तर अपनी पत्नी जयासे जाकर कह दिया। उसके पेटमें वह बात नहीं पच सकी, उसने सब कथा भगवती पार्वतीजीसे कह सुनाई। फिर पार्वतीने शिवजीसे कहा कि जिस कथाको आपने गुप्त रूपसे सुनाया था उसे तो जया भी जानती है। इस पर भगवानने प्रणिधान करके विचारा तो पुष्पदन्तका सब करतूत खोलकर कह सुनाया, तब तो श्रीपार्वतजीने क्रोध करके पुष्पदन्तको मनुष्य होनेका शाप दे दिया, फिर उसके लिए सानुरोध प्रार्थना करने पर उसके परममित्र माल्यवानको भी वही शाप मिल गया। तदनन्तर जयाके बहुत गिड़गिड़ाकर विनती करने पर आज्ञा मिली कि-विन्ध्याचल पर सुप्रतीक नामक यक्ष काणभूति नामा पिशाच हुआ है, उसे देख जातिको स्मरण करके जब पुष्पदन्त सब कथा कहेगा तो उसका शापोद्धार होवेगा। और काणभूतिसे जब माल्यवान सुनेगा तब काणभूतिके मुक्त होजाने पर इस कथाको लोकमें प्रसिद्ध करके माल्यवानभी शापसे छूट जावेगा। इस प्रकार से शापोद्धार बताकर भगवतीके चुप होते ही वे दोनों गण विजुरीके समान तुरतही अन्तर्धान हो गये।

"अथ जातु याति काले, गौरी पप्रच्छ शङ्करं सदया।
देव! मया तौ शप्तौ, प्रमथवरौ कुत्र भुवि जातौ॥ ६३॥
अवदच्च चन्द्रमौलिः, कौशाम्बीत्यस्ति या महानगरी।
तस्यां स पुष्पदन्तो, वररुचिनामा प्रिये! जातः॥ ६४॥
अन्यच्च माल्यवानपि, नगरवरे सुप्रतिष्ठिताख्ये सः।
जातो गुणाढ्यनामा, देवि! तयोरेष वृत्तान्तः॥ ६५॥"

अर्थात्-इसके अनन्तर कुछ काल बीतजाने पर जगदम्बा पार्वतीजीने दयासे आर्द्रचित्त होकर श्रीमहादेवजीसे पूछा कि-हे देव! मेरे शापित वे दोनों गणश्रेष्ठ भूममंडल पर कहां उत्पन्न हुए? इस पर भगवान चन्द्रमौलिने कहा कि, हे प्रिये! जो कौशाम्बी नामकी महानगरी है, उसीमें पुष्पदन्त वररुचि नामसे उत्पन्न हुआ। और माल्यवानभी सुप्रतिष्ठित नामक उत्तम नगरमें

गुणाढ्य नामसे उत्पन्न हुआ (है) हे देवि! उन दोनोंका यही वृत्तान्त है।

(प्रथम तरंग)

कौशाम्बी नगरीमें सोमदत्त अथवा अग्निशिख नामक ब्राह्मणकी पत्नी वसुदत्ताके गर्भसे वररुचिका जन्म हुआ। उसका पिता बहुत बचपनहीमें सुरधामको सिधारगया, इससे माताने बड़े कष्टसे उसका पालन पोषण किया। एकवार वेतसपुरके निवासी देवस्वामीका पुत्र इन्द्रदत्त और करम्भकका पुत्र व्याडी-दोनों भाई उसके घर पर रातभर टिकनेके लिये आये। उसी रातमें मृदंगकी ध्वनि सुनकर वररुचिने आपनीमातासे नाटक देखने के लिये आज्ञा मांगी, और यहभी कहा कि मैं लौटआने पर तुमको सब दिखादूंगा इसपर इन्द्रदत्त और व्याडि दोनोंही बड़े विस्मित हुए। तब वसुदत्ताने कहा कि, यह लड़का एकश्रुतिधर है, अतएव इसके विषय में आप लोग कुछ सन्देह न करें। फिर उन दोनोंने परीक्षा करने के लिये प्रातिशाख्यका पाठ किया वररुचिने उसे सुनादिया। तदनन्तर उन दोनोंके साथ जाकर अपने पिताके मित्र नन्दनामक नटका अभिनय देखा, फिर घरपर आकर अपनी माताके सामने ज्योंकात्यों करदिखलाया। इसपर उन दोनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि जब उन दोनोंने विद्याके निमित्त तपस्या की थी तो भगवान स्वामिकार्तिकजीने वरदान किया था कि, पाटलिपुत्र (पटना) में वर्ष नामक उपाध्यायसे तुमलोग विद्या प्राप्त करोगे। शंकर-स्वामी नामक ब्राह्मणके वर्ष और उपवर्ष*नामक दो पुत्र थे। उनमें वर्ष तो दरिद्र और मूर्ख था, पर उपवर्ष धनी तथा पण्डित था। उसीकी स्त्रीके तिरस्कार करनेसे वर्षने विद्या प्राप्त करनेके हेतु बड़ा कठोर तप किया, उसपर प्रसन्न होकर श्रीस्वामि कार्तिकजीने समस्त विद्याओंको प्रकाशित करके कहाकि जब तुम एकश्रुतिधरको पाना तब अपनी विद्याको प्रकाश करना। इसीसे जब इन्द्रदत्त और व्याडि उसके घरपर गये तो वर्षकी भार्याने कहाकि, जबतक कोई एकश्रुतिधर नहीं आवेगा तबलों ये अपनी विद्याका प्रकाश नहीं

---

*इन्होने जैमिनिसूत्र और बादरायण सूत्रोंपर भाष्यबनाया है. भगवान् शंकराचार्यने अपने भाष्यमें इनका उल्लेख किया है।

करेगें । बहुत ढूंढ़नेके अनन्तर वररुचिको एकश्रुतिघर पाकर उन दोनों के हर्षकी सीमा नहीं रही । फिर उनलोगोंने वसुदत्ताको सब समाचार सुनाकर एवं कुछ धनभी देनेके अनन्तर वररुचिको पढ़ाने के लिये मांगा । इसपर वसुदत्ताने कहाकि, जब यह लडका उत्पन्न हुआ तो उस समय आकाशवाणी हुई थी कि, यह बालक एकश्रुति धर होगा, और वर्षसे विद्या पावेगा, एवं व्याकरणशास्त्रका आचार्य होगा, और इसे वही रुचेगा जो कुछ वर (अच्छा) होगा-अतएव इसका नाम वररुचि पडेगा-इसकेलिये मैं तबीसे सोचकरती हूं कि वह वर्ष उपाध्याय कहां है ? पर आज तुमलोगोंके मुखसे सब बातें जानकर मेराभी परितोष होगया—सो यह तुमलोगोंका भाई है, इसे अपने साथ लिवाजाओ इसमें कुछ हानि नहीं है । इस प्रकार से वररुचिकी माताका कथन सुनकर वे दोनोंही परम आल्हादित हुए फिर वररुचिका यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे वेद पढ़ने का अधिकारी बनाया । इसके पीछे वे तीनों जन वर्ष उपाध्यायके पास पहुंचे, इन तीनोंको देखकर वह बहुतही प्रसन्न हुआ समस्त वेद वेदांग उन सबोंको पढ़ादिया-क्योंकि वररुचि एकश्रुतिधर, व्याडि द्वि—श्रुतिधर, और इन्द्रदत्त त्रि-श्रुति धर था—

"सकृच्छ्रुतं मया तत्र, द्विःश्रुतं व्याडिना तथा ।
त्रिःश्रुतश्चेन्द्रदत्तेन, गुरुणोक्तमगृह्यत ॥ ८० ॥"

वर्ष उपाध्यायको पुरवासी लोग मूर्खही जानते थे पर एकाएकी जब उसकी विद्याका डंका बजनेलगा तो ब्राह्मणलोग बडेही आश्चर्यसे देखकर प्रणाम करने लगे । और सारे (सबी) पटना के रहने वाले बहुत प्रसन्न हुए, यहां तक कि, वहां के राजा नन्दने भी वड़े आदरके साथ वर्षको बहुतसा धन देकर उसका घर भरदिया ।

(द्वितीय तरंग)

तदनन्तर उपवर्षकी बेटी उदकोशासे वररुचिका विवाह हुआ । जिसके पातिव्रत और शुद्ध चारित्र पर मुग्ध होकर राजा नन्दने उसे अपनी धर्मकी भगिनी बनाई । फिर वर्षके पाणिनि नामक

एक मूर्ख शिष्यने श्रीमहादेवजीसे वर पाकर अपना एक नया व्याकरण निर्माण किया, और जब वररुचिने उससे शास्त्रार्थ किया तो शिवजीने अपने हुंकारसे वररुचिका इन्द्रमत-वाला व्याकरण भुलवा दिया। तब फिरसे वररुचिने महादेवजीका तपोनुष्ठान करके उन्हीसे नूतन व्याकरण सीखा*। और पाणिनिके व्याकरण (कीन्यूनता)को (वार्त्तिक बनाकर) पूरा किया। इसके पीछे इन्द्रदत्त और व्याडिने वर्ष उपाध्यायसे गुरुदक्षिणा मांगनेकी प्रार्थनाकी-तब उसने एक करोड़ स्वर्ण (मुद्रा) मांगा। तिस पर सम्मति करके तीनोंही जन राजा नन्दके पास गुरुदक्षिणा देनेके लिए धन मांगने गये इन लोगोंके पहुँचतेही राजाका शरीरान्त होगया।

अनन्तर इन्द्रदत्त योगबलसे राजाके शरीरमें घुसगया। और इन्द्रदत्तके निर्जीव शरीरकी रक्षाके लिये व्याडि नियुक्त हुआ। वह इन्द्रदत्तका (मृत) देह लेकर एक मन्दिरमें अगोरता रहा। इसी समयमें वररुचिने उसके पास जाकर एक करोड़ स्वर्ण (मुद्रा) मांगा। इसपर शकटाल (र) को जो उस राजा का महामन्त्री था—सन्देह हुआ, उसने आज्ञा देदी कि जितनेही शव (मुर्दे) नगरमें होवें तुरत फूंकवादिये जावें। फिर क्या था व्याडिके बहुत रोकने छेकने परभी राजाके कर्मचारियोंने इन्द्रदत्तका शरीर जलाकर राख करदिया। तत्पश्चात् वररुचिको धन मिला, तब व्याडितो उसे लेकर गुरु-दक्षिणा देने गया। और राजाने जीते हुए योगी ब्राह्मणको फुंकवादेनेका दोष लगाकर शकटालको टाल (हटा) कर वररुचिहीको अपना मन्त्री बनाया। वहभी अपनी पतिप्राणा पत्नी उपकोशाके साथ पटना नगरमें रहकर आनन्द पूर्वक राजकाज करने लगा।

(चतुर्थ तरंग)

इसके अनन्तर योगानन्दसे विरक्त होकर जब वररुचि वनवन फिरने लगा तो शकटालने चाणक्य नामक बडे क्रोधी ब्राह्मणद्वारा नन्द-वंशका नाशकराय राजसिंहासन चन्द्रगुप्तको दिलवाया। तब

*वही शिवजीका व्याकरण पाणिनीय कहलाता है—

"नृत्तावसाने नटराजराजो, ननाद ढक्कां नव-पञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धा, नेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥"

वररुचि विन्ध्याचल पर जाय काणभूति नामक पिशाचसे मिल सब कथा वर्णन करनेके उपरांत बदरिकाश्रममें पहुँच योगानलसे अपने शरीरको भस्मकर परम दिव्य गतिको प्राप्त हुआ ।

(पञ्चम तरंग)

यह तो वररुचि उपनाम कात्यायनकी संक्षिप्त कथा हुई पर इसके पूर्वही गन्धर्व योनिमें वह पुष्पदन्त नामसे हुआथा उस जन्मकाभी वृत्तान्त उक्त ग्रन्थके सातवें तरङ्गमें इस प्रकारसे निरुपित है—

"श्रीगङ्गाजीके तीरपर एक अग्रहार नामका स्थान है । वहां पर एक बहुश्रुत गोविन्ददत्त नामक ब्राह्मण रहताथा, उसकी स्त्रीका नाम अग्निदत्ता था, उसीके उदरसे देवदत्तका जन्म हुआ था । एक वार उसी देवदत्तको देखकर प्रतिष्ठानपुरके राजाकी कन्याने पहिले दान्तसे पुष्प गिराकर सङ्केत बतलाया था—

"ततः समीपं तस्याश्च, ययावन्तः पुराच्च सः ।
सा च चिक्षेप दन्तेन, पुष्पमादाय तं प्रति ॥ ६४ ॥"

पर वह देवदत्त अपनी प्यारीके दांतसे गिराये हुए फूलका संकेत नहीं समझसका, अत एव जब वरदानके प्रभावसे वह श्रीमहादेवजीका गण हुआ तो उसका नाम पुष्पदन्त पड़ा, और उसकी सहधर्मिणीभी श्रीपार्बती देवीकी जया नामक प्रतिहारी हुई ।

"प्रियादन्तोज्झितात्पुष्पात्संज्ञां न ज्ञातवान् यतः ।
अतः स पुष्पदन्ताख्यः, सम्पन्नो गणसंसदि ॥ १०६ ॥

तद्भार्य्या च प्रतीहारी, देव्या जाता जयाभिधा ।"—

इस कथाके अवलोकनसे यह बात स्पष्ट होजाती है कि, पुष्पदन्त गण होनेके पूर्व जन्ममें देवदत्त नामक ब्राह्मण था, फिर गन्धर्व योनिप्राप्त करके महादेवजीका गण हुआ । तदनन्तर श्रीपार्बतीजीके शापसे फिर मनुष्य हुआ तब उसका नाम वररुचि अथवा कात्यायन प्रसिद्ध हुआथा। पर इस कथासे पुष्पदन्ताचार्यके समयका कोई प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि यह कौन बतासकता है कि देवदत्त कब पुष्पदन्त हुआ और कितने समय तक श्रीमहादेवजीका गण बनारहा ? जोहो-पर उक्त कथासे उसी पुष्पदन्तका वररुचि अथवा कात्यायन होना प्रमाणित है, अत एव अब कुछ थोडीसी पौरा-

णिक चर्चाभी सुन समझलेनी चाहिए तब फिर वररुचिके समय-(जमाना) की बात छेड़ीजावे—

श्रीमन्महाभारतके-९ वें पर्व-४९ वें श्लोकमें लिखाहै कि, भगवती पार्वतीजीने भगवान् स्वामि कार्तिकजीकी सेवाके लिये इन्ही पुष्पदन्तजीको अनुचर नियुक्त किया था। यथा—

"उन्मादं पुष्पदन्तञ्च, शङ्कुकर्णं तथैव च ।
प्रददा वह्निपुत्राय, पार्वती शुभदर्शना ॥"

इसी भांति महाभारतमें औरभी अनेक स्थलों पर पुष्पदन्तका नाम पाया जाता है, यथा—प० ७-अ० २००-श्लो० ७० में—

"अर्णो कृत्वैलपुत्रश्च, पुष्पदन्तश्च त्र्यम्बकः ।"-इत्यादि ।

यों ही स्कन्दमहापुराणके अन्तर्गत चतुर्थ काशीखण्डमें पुष्पदन्तेश्वरका उल्लेख हुआ है। इससे यह बात औरभी स्पष्टहै।

लिङ्गपुराणोत्तरार्धभागके २७ वें अ० में अभिषेकवर्णनके आवरणदेवतोंमें यों-कहा गया है।

"पुष्पदन्तो महानागो विपुलानन्दकारकः ११३
शुक्लो विशालः कमलो बिल्वश्चारुण एव च ।
प्रथमावरणं प्रोक्तं द्वितीयावरणं शृणु ॥ ११४ ॥"

कहा जाता है कि पुष्पदन्तका समय बहुतही पुराना है-क्योंकि स्कन्दपुराण ऐसे प्राचीन ग्रन्थमें उनके स्थापित महादेवका बर्णन किया गया है-यथा, काशीखण्ड अध्याय ९७ वें में भगवान स्कन्ददेवजी महर्षि अगस्त्यजीसे कहते हैं कि,-"तुमारे कुण्डके दक्षिण प्रसिद्ध पुष्पदन्तेश्वर हैं, उनसे अग्निकोण पर देवता ऋषि और गणलोगोंके स्थापित अनेक लिङ्ग हैं। पुष्पदन्तेश्वरके दक्षिण परमसिद्धि देनेवाला सिद्धीश्वर लिंग विराजमान है।—

"दक्षिणे तव कुण्डाच्च पुष्पदन्तेश्वरः परः ॥ २४६ ॥
तदग्निदिशि देवर्षिगणलिङ्गान्यनेकशः ।
पुष्पदन्ताद्दक्षिणतः, सिद्धीशः परसिद्धिदः ॥ २४७ ॥"

इन वाक्योंसे यह भली भांति विदित होजाता है कि महाभारत एवं पुराणों के निर्माण कालसे पूर्वही पुष्पदन्ताचार्य्य प्राचीन प्रसिद्ध होचुके थे। क्योंकि इन वाक्योंमें उनका नाम जिस ढंगसे लिखागया है उसे विचारपूर्वक देखनेसे विज्ञलोग स्वयं अनुमान कर

सकते हैं कि, यदि वह प्रसिद्ध न हो चुके होते तो उनका परिचय दिखानेके लिए, कुछ औरभी अक्षर अवश्य बढ़ादिये जाते। इस स्थान पर इतना औरभी निवेदन करदेना उचित जानपडता है कि उक्त पुष्पदन्तेश्वरका स्थान आजतक काशीपुरीमें अगस्तकुंडा और बङ्गालीटोलाके बीचमें पतलेस्सर (पातालेश्वर) महाल कहलाता है,—यहभी एक किंवदन्ती सुनीजाती है कि, जब पुष्पदंतजी शापग्रस्त हुए थे तबी काशी धाममें आकर शिवलिङ्गकी स्थापना करके इस प्रसिद्ध महिम्नस्तोत्रको उन्होंने बनाया था, जो हो पर पातालेश्वरके पासही एक मन्दिरमें पुष्पदन्तेश्वर नामका विशाल शिवलिङ्ग विद्यमान है, और आजदिनभी बहुतेरे महिम्नस्तोत्रके प्रेमी लोग उक्त स्थान पर इसी स्तोत्रसे रुद्राभिषेक अथवा सहस्रपाठादिका अनुष्ठान करते कराते हैं और स्कन्दपुराणमें तो अनेक स्थलों पर पुष्पदन्तका नामोल्लेख हुआ ही है पर प्रभासखण्डके १८०(अ०) में पुष्पदन्तेश्वरलिङ्गमाहात्म्यवर्णन द्रष्टव्य है—

यों तो श्रीमद्भागवतकेभी आठवें स्कन्धके एकीसवें अध्यायका सत्रहवां श्लोक पुष्पदन्तका नाम सुनाता हैं, पर वह पुष्पदन्त कोई दूसरा है क्योंकि उसमें विष्णुके गणोंमें नामोल्लेख किया गया है। यथा—

"जयन्तः श्रुतदेवश्च, पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः।"

यों ही मत्स्यपुराण अ० २५३ के वास्तुप्रकरणमेंभी बाह्यपूज्य बत्तीसदेवोंमें पुष्पदन्तका नाम आयाहै, यथा—

"दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो जलाधिपः ॥ २६ ॥"

इत्यादि।

रहा अमरकोशके बतलाये हुए वायुकोणके दिग्गजका नामभी तो पुष्पदन्तही प्रसिद्ध है जैसाकि,प्रथम-काण्ड,३य-वर्गका ४ श्लोक है

"पुष्पदन्तः सार्वभौमः, सुप्रतीकश्च दिग्गजः।"

यद्यपि इन पुष्पदन्तों से मुझे कोई आवश्यक नहीं है पर—"नाम जानि पै तुह्महि न चीह्ना" के अनुसार चरित नायकके नामराशि होनेके कारण यहांपर लिखदेना अनुचित नहीं समझाजायगा।

कई एक टीकाकारोंने पुष्पदन्तजीके विषयमें यह उपाख्यानभी लिखा है-"कोई गन्धर्बराज बाहु नामक एक राजाकी फुलवारीसे

प्रतिदिन उत्तमोत्तम फूल लेकर आकाशमार्गसे उडजाया करता था। (क्योंकि मनुभगवानके आज्ञानुसार देव पूजनके निमित्त विना पूछेही फूल तोडलेनेसे चोरी नहीं होती।)

अस्तु, जब राजा पूजापर उन सुगन्धभरे बढियां फूलोंको नहीं पाता तो मालियों पर बडा क्रुद्ध होता था। अंततो गत्वा बहुत पहरा चौकी करने परभी जब उन सबोंको पुष्पापहारकका पता नहीं लगा तो किसी विज्ञके बतादेने पर उन लोगोंने बगीचे भरके सब मार्गों (रविशों) पर शिवजीका निर्माल्य फैलादिया। बस फिर क्याथा गंधर्वराजने तो इसका कुछ विचार कियाही नहीं, उद्यानों घूम घूम कर फूल लोढ़ने (चुनने) लगे, जिससे कि श्रीशङ्करजीका चढ़ा हुआ फूल और विल्व पत्र इत्यादि उनके पैरके नीचे पड़ता रहा। फिर जब फूल लेकर चलनेको उद्यत हुए तो उसी शिवनिर्माल्यके पद-दलित करनेके कारण उनकी खेचरी शक्तिजाती रही। तब तो मालियोंने विना प्रयासही उन्हें पकड़ कर राजाके संमुख उपस्थित किया-राजाकी आज्ञानुसार वे बन्दी किये गये। तब वे कारागारमें जानेपर एकान्तमें प्रणिधानसे विचारकरने लगे तो अपने इस दुःखका कारण एकमात्र शिव-निर्माल्यके लंघनही को पाया। तब उसी निर्माल्य लंघनके अपराधसे मुक्त होनेकी इच्छासे श्रीमहादेव स्वामीकी महिमाका गान करने लगे, जिससे उनका समस्त कष्ट और दुःख दूर हो गया।"

मेरी समझमें तो पुष्पापहार-दोषके परिहारार्थही यह-"वाक्य-पुष्पोपहार" निर्माण किया गया, और इसकी संख्या बत्तीसही रक्खी गई क्योंकि मुखमें उतनी ही गनतीके दांत होते हैं फिर कंठमें पहिननेकी माला जिसे कंठमाला (अथवा कंठाभी) कहाजाता है रुद्राक्ष इत्यादिके बत्तीसही दानेकी बनायी जाती है, और यह स्तोत्र "श्रीपुष्पदन्त मुखपङ्कजनिर्गत" एवं "कण्ठस्थित" है। अत एव सम्भव है कि दंत संख्यक वाक्यरूपी पुष्पोंके उपहार समर्पण करनेहीसे गंधर्वराजने पुष्पदन्त-नाम और श्रीमहादेवजीके "सकलगणवरिष्ठ" त्वको प्राप्त किया हो। अच्छा तो अब मैं इस चर्चाको विद्वान लोगोंहीके विचार पर निर्भर करके छोड देता हूं-क्यों कि अनुमान लडाने वाले प्रतिभाशाली लोग स्वयं जितना बिचार-

गड़ानेमें समर्थ होसकेंगे, भला वे बातें मेरी क्षुद्र बुद्धिमें कैसे समासकती हैं ?

अब दो एक बातें वररुचिके विषयमें कहदेना चाहता हूं-क्योंकि वह पुष्पदन्तके अवतार माने जाते हैं और कथासरित्सागरके अनुसार यह बात भलीभांतिसे प्रमाणितभी हो चुकी है।

महाकवि कालिदासजीका बनाया हुआ "ज्योतिर्विदाभरण" नामक ग्रंथ बहुत प्रचलित है—उसका यह श्लोक प्रायः बड़ा प्रसिद्ध है—

"धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंह-शङ्कु,-वेतालभट्ट घटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेःसभायां,रत्नानि वै वररुचि र्नव विक्रमस्य॥"

इस पद्यसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि महाराज विक्रमादित्यकी सभाके नव रत्नोंमें वररुचि वर्तमान था। और एक जनश्रुतिभी मैने बहुत लडकपनमें अपने पूज्यपाद पिताजीके मुखसे सुनी थी-उसेभी उद्धृत करदेना अनुकूल जान पड़ता है।

"एकवार कोई एक शिलपकार (कारीगर) महाराज विक्रमादित्यके दरबारमें दो पुतालियां बनाकर उपहार (नजर) लेआया वे दोनों ही रुप-रंग और मापमें एक समान थी, देखनेसे उन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं प्रकट होता था पर उस शिलपीका कथन था कि-एकका मूल्य (दाम) तो एक लाख रुपया है, और दूसरीका मूल्य केवल दो कौडी है, इस पर दरबार भरमें बडा कौतूहल मचगया। स्वयं महाराजनेभी विस्मित होकर इस मूल्य-भेदका कारण पूछा, तो उसने यही उत्तर दिया कि आपके दरबारमें बड़े बड़े बुद्धिमान एवं विद्वान लोग वर्तमान हैं-उन्ही लोगोंसे इस भेदको पूछिए तब सब कारण आपसे आप ज्ञात होजायगा। अस्तु राजाकी आज्ञानुसार सबी लोग तर्क करने लगे पर कुछ भेद नहीं समझमें आया, अन्ततो गत्वा बहुत दिन बीतने परभी जब कोई कारण नहीं बतासका तो एक दिन विक्रमने खिजलाकर यह कठोर आज्ञा देदी कि, यदि एक मासके भीतर हमारे दरबारी पंडित लोग इसका यथार्थ उत्तर नहीं देवेंगे तो उन सब लोगोंको प्राणदंड दिया जावेगा। फिर क्या था, अवधिके दिन पूजने तक बिचारे पंडित लोग राज्य छोडकर रातमें भागजानेका प्रबंध करने-

लगे, इसी गोलमें वररुचिभी था। वह अपने साथियोंको छोड़-छाड़कर अकेलाही जंगलकी ओर निकलभागा-पर कुछ ही दूर जाने पर रात्रिके अंधकार और हिंसक वन्य पशुओंके भयसे आगे नहीं बढ़सका, बिचारा कि किसी वृक्ष पर चढकर बैठे बैठे रात काटनी चाहिए, सबेरा होने पर किसी ओरका मार्ग धरलेंगे-अस्तु वैसाही कियाभी-एक बड़ेभारी बरगदके पेड़पर चढ़बैठा। दैवात् उसी वृक्षके नीचे एक शृगालकी मांद थी-उसकी सियारिन गर्भवती थी सो वे दोनों शृगाल (दम्पती) आपसमें बात चीत करने लगे-सियारिनने अपने स्वामीसे मनुष्यका मांस खिलाने के लिए अनुरोध किया, इसपर सियारने कहा कि कलही तुझे मनुष्य क्या ब्राह्मण पंडितोंका पवित्र मांस यथेष्ट-रुपसे भर पेट खिलादूंगा। अपने पतिकी ऐसी टटकतोड़ दृढ़ प्रतिज्ञा सुनकर स्यारिन बडी प्रसन्न हुई-और पूछने लगी कि, कैसे तुम ऐसा उत्तम मांस मुझे चखासकोगे? शृगालने राज दरबारका समस्त वृत्तान्त सविस्तर कहसुनाया, तब उसकी स्त्रीने बड़े आग्रहके साथ उन पुतलियोंके मूल्य-भेदका कारण पूछा। पहिलेतो सियारने कहने में इधर उधर किया-पर उसके हठ करने पर यों कहने लगा कि उन दोनोंमें केवल इतनाही अंतर है-कि एक पुतलीके कानमें यदि कोई वस्तु डाली जावे तो वह उसके पेटहीमें पडी रहेगी, और दूसरीके कानकी डाली हुई वस्तु तुरतही उसके मुखके मार्गसे बाहर निकल पडेगी-(अभिप्राय यह कि जिसकिसीके पेटमें बातें ठहरसकतीं हैं, वह तो लाख रुपयेका मनुष्य है, और जो कोई सुनेके साथही बकरने लगता है वह दो कौडी का है) निदान, इतना सुनतेही वररुचि अपने हर्षका वेग नहीं सम्भार सका मारे प्रसन्नताके ठठाकर हंसने लगा, और तुरत पेड़परसे कूदकर नीचे आ खड़ा हुआ-यह देखकर सियारने कहा—

"दिवा विचार्य्य वक्तव्यं, रात्रौ नैव च नैव च।
पर्य्यटन्ति सदा धूर्ता, वटे वररुचि र्यथा॥"

अर्थात् यदि कोई गुप्त बात कहनी हो तो विचार पूर्वक दिनहीमें कहनी चाहिए, रातमें कदापि कहना उचित नहीं है, क्योंकि धूर्त लोग बराबर घूमाकरते हैं, जैसे बरगद पर वररुचि दुकाथा॥

भया, तब क्या था-प्रातः काल दरबारमें पहुंच कर वररुचिने उसकी परीक्षा कर दिखलाई-जिससे सबी पंडितोंका प्राण बचा। और राजा ने उस शिल्पकार एवं वररुचिको बहुत कुछ पुरस्कार, और पारितोषिक देकर संतुष्ट किया। —इस शिक्षामय कहानीसे चाहे और कुछ प्रमाण न मिले पर वररुचिका महाराज विक्रमके कालमें वर्तमान रहना और पशु-पक्षियोंकी भाषाका अभिज्ञ होना स्पष्टरीतिसे ज्ञात हो जाता है, आजकल नवीनशैलीवालोंको तो यह कथा गप्पही जान पडेगी पर विचार करने पर प्राचीन विद्वानोंकी पशु इत्यादिकी भाषा समझलेनेकी निपुणता प्रसिद्ध थी, यदि ऐसा न होता तो शकुन शास्त्रके अनेक ग्रंथ-जिनमें प्रायः पशु-पक्षियोंहीके शब्द किंवा चेष्टा इत्यादिसे हिता-हितका विचार किया जाता है, कैसे निर्माण किये जाते ? और उनकी बहुतेरी बातें कैसे आज तक यथार्थ रुपसे मिलजाया करतीं हैं ?

पाठक महोदयगण ! यह सब तो पुरानी गप्पें अथवा कथायें आप लोगोंसे निवेदन करदी गईं-,अब कतिपय अर्वाचीन विद्वानोंकी भी सम्मतियां उद्धृत करदेना आवश्यक है, क्योंकि इसी महिम्नमें कहा है—

"पदेत्वर्वाचीने न पतति मनः कस्य न वचः ?"-

श्रीकाशीपुरीके प्रतिष्ठित अस्तमित बाबू हरिश्चन्द्रजीने अपने "चरितावली-"नामक ग्रन्थमें-"महिम्न और पुष्पदन्ताचार्य्य।"-शीर्षक देकर इस प्रकारसे उल्लेख किया है—

"यह स्तोत्र अब ऐसा प्रसिद्ध है कि आर्षकी भांति माना जाता है वरंच पुराणोंमें भी कहीं २ इसका माहात्म्य मिलता है, एक प्रसङ्ग है कि जब पुष्पदन्तने महिम्न बनाके शिवजीको सुनाया तब शिवजी बडे प्रसन्न हुए इससे पुष्पदन्तको गर्व हुआ कि मैंने ऐसी अच्छी कविता किया कि शिवजी प्रसन्न हो गए यह बात शिवजीने जाना और अपने भृङ्गीगणसे कहा कि मुंह तो खोलो जब भृङ्गीने मुंह खोला तो पुष्पदन्तने देखा कि महिम्नके बत्तीसों श्लोक भृङ्गीके बत्तीसों दांतमें लिखें हैं इस्से यह बात शिवजीने प्रगट किया कि ये श्लोक तुमने नहीं बनाए है बरंच यह तो हमारी अनादि स्तुतिके श्लोक है। यह बात प्रसिद्ध है कि पुष्पदन्त जब शापसे ब्राह्मण हुआ

था तब यह स्तोत्र बनाया है और ऐसी ही अनेक आख्यायिका हैं अब वह पुष्पदन्त कौन है और कब वह ब्राह्मण हुआ इसका विचार करते हैं । ”

इसके अनन्तर इस लेखमें भी कथासरित्सागरकी पूर्वोक्त कथा संक्षिप्त रुपसे लिखकरके फिर इस प्रकारसे अपना विचार प्रकट किया है—

“इस कथा के व्याख्यान से यह स्पष्ट होता है कि वर्णन नंदके राज्य के समय का है और उस समय के देवता शिव और स्कन्द थे और व्याकरणका बडा प्रचार था कातंत्र कालाप ऐन्द्र पाणिनीय इत्यादि मत में परस्पर बडा बिरोध था संस्कृत प्राकृत पैशाची और देश भाषा बहुत प्रसिद्ध थीं परन्तु पांच और भाषा॰ भी प्रचलित थीं, पाटलिपुत्र नया बसा था, प्रतिष्ठान पुर और अयोध्या भी बहुत बसती, धूर्तता फैल गई थी और हिन्दुस्तान में पश्चिम देश बहुत मिला हुआ था इत्यादि ।

इस बृहत्कथामें ऐसे ही गुणाढ्य कविके भी तीनों जन्म लिखे हैं और उसका बृहत्कथाका पैशाची भाषा में निर्माण करना उसमें छः लाख ग्रंथ जला देना और एक लाख ग्रंथ नरबाहन दत्तके चरित्रका राजा शातबाहनको देना इत्यादि सविस्तर वर्णित है ।

अब यह बृहत्कथा कब बनी है और किसने बनाया है इसके विचारमें चित्त बहुत दोलायित होता है क्योंकि इसका काल ठीक निर्णीत नहीं होता । नंदके समयकी भी नहीं मान सकते क्योंकि इसी बृहत्कथामें विक्रमादित्य उदयन ऐसे प्राचीन नवीन अनेक राजाओंका वर्णन है परन्तु इतना कह सकते हैं कि इसका मूल प्राचीन काल से पडा है और उसको अनेक कालमें अनेक कवि बढाते गए हैं क्योंकि “कात्यायनाद्यैः कृतिः, तत् पुष्पदंतादिभिः” इत्यादि पदोंमें आदि शब्द मिलता है। वा अनेक प्राचीन सुनी हुई कथाओंका किसीने एकत्र करके आदरके हेतु उसमें पुष्पदंत का नाम रख दिया हो तो भी आश्चर्य नहीं क्योंकि कात्यायन वररुचिका होना खीस्ताब्दीयके १२० वर्ष पूर्व लोग अनुमान करते हैं और विक्रमका काल पण्डितोंने ५०० खीस्ताब्दके लगभग निश्चय किया है और ऐसा माननेसे प्रोफेसर गोल्डस्टकर इत्यादि

इतिहास वेत्ताओंका दो वररुचि मानने बाला मत भी स्पष्ट खंडित होता है क्योंकि बृहत्कथामें जब विक्रमका चरित्र है तब उसी विक्रमादित्यवाले वररुचिका नाम कात्यायन संभव है।

परन्तु हमारा कथन यह है कि संस्कृत बृहत्कथा गुणाढ्यकी बनाई ही नहीं है क्योंकि उसमें स्पष्ट लिखा है कि गुणाढ्यने संस्कृत बोलना छोड दिया था इस्से पिशाच भाषामें बृहत्कथा बनाया तो इस दशामें सम्भव है कि किसीने यह बृहत्कथा बनाकर बररुचि गुणाढ्य पुष्पदंत इत्यादिका नाम आदर और प्रमाण पानके हेतु रख दिया हो।

अब जो बृहत्कथा मिलती है वह तीस हजार श्लोकमें रामदेव-भट्टके पुत्र सोमदेवभट्टकी बनाई है जो उसने कश्मीरके राजा संग्रामदेवके पुत्र अनन्तदेवकी रानी सूर्यवतीके चित्त विनोदके हेतु बनाई है और इसी अनन्तदेवके पुत्र कमलदेव हुए और कमलदेव के पुत्र श्रीहर्षदेव हुए।

कश्मीरके इन राजाओंके नाम चित्तको और भी संशयमें डालते हैं क्योंकि रत्नावली वाला श्रीहर्ष कालिदासके पहिलेका है क्योंकि कालिदासने मालविकाग्निमित्रमें धावक कविका नाम प्राचीन कवियोंमें लिखा है अब इस दशामें विरोधका परिहार यों हो सकता है कि जिस विक्रमका चरित्र बृहत्कथामें है वह नवरत्न वाला विक्रम नहीं किन्तु कोई प्राचीन विक्रम है। और यह बृहत्कथा धावकके थोडे ही काल पहिले कश्मीरमें सोमदेवने बनाई है क्योंकि इसमें नन्द और विक्रमकी भांति भोज कालिदास इत्यादिका नाम नहीं है और नवरत्न वाला वररुचि दूसरा था क्योंकि उस कालमें राजा और कवियोंके वही नाम बारम्बार होते थे इससे बृहत्कथा संवत और खिस्तसनके पूर्व बनी है और गुणाढ्य और वररुचि कुछ इससे भी पहिलेके हैं।

परन्तु बृहत्कथाके किसी लेखका हम प्रमाण नहीं करते क्योंकि यह बडा असंगत ग्रन्थ है। जैसा अनन्त पंडित की बनाई मुद्राराक्षस की पूर्व पीठिकामें नन्दका नाम सुधन्वा लिखा है और इसमें योगनंद है उसमें जो बररुचिके मंत्री होनेका प्रसंग है वह इस पीठिकामें कहीं मिलताही नहीं और पाणिनी वर्ष, कात्यायन

व्याडि, इन्द्रदत्त और अनेक व्याकरणके आचार्य बृहत्कथाके मतसे एक कालके थे पर बुद्धिमानोंने इन सबके काव्य (काल) में बडा भेद ठहराया है इससे इतिहास विषयमें बृहत्कथा अ-प्रमाणिक है ।

बृहत्कथाका वर्णन और गुणाढ्य इत्यादि कवियोंका वर्णन आर्य्यासप्तशती बनाने वाले गोवर्द्धन कविने किया है और गोवर्द्धन कविका काव्य जयदेवजीके कालसे निश्चित होगा बंगाली लेखकोंने जयदेवजीका समय पन्द्रहवां शतक ठहराया है पर इस निर्णयमें परम भ्रांत हुए हैं क्योंकिं जयदेवजीका काल एक सहस्र वर्षके पूर्व है और इसमें प्रमाणके हेतु पृथ्वीराज रायसामें चंद कविका, जयदेव जीका और गीतगोविन्द वर्णनही प्रमाण है । जयदेवजीने गोवर्द्धन कविका वर्णन वर्तमान क्रियासे किया है इससे अनुमान होता है कि उस कालमें गोवर्धन कवि था बङ्गाली लोगोंमें कोई बारहवें शतकमें लक्ष्मनसेनके कालमें जयदेवजीको मानते हैं और उसके समकालीन गोवर्धन इत्यादि कवियोंको लक्ष्मनसेनकी सभाका पञ्चरत्न मानते हैं यह बात भी असंभव है क्योंकि पृथ्वीराज ग्यारहवें शतकमें था और चन्दभी तभी था जयदेव चन्दके सैकड़ों वर्ष पहिले निस्सन्देह हुए हैं क्योंकि चन्दने प्राचीन कवियोंकी गणनामें बड़ी भक्तिसे जयदेवजी का वर्णन किया है, हां यदि लक्ष्मनसेन को पृथ्वीराजके पहिले मानो तो जयदेव उसके सभाके पण्डित हो सकते हैं नहीं तो समझ लो कि आदरके हेतु इन कवियोंका नाम लक्ष्मनसेनने अपनी सभा में रक्खा है इससे चल सखि कुंजकी भाषा और अङ्गरेजी इतिहास वेत्ताओंका मत लेकर बंगालियोंने जयदेवजीका जो काल निर्णय किया है वह अप्रमाण है यह निश्चय हुआ और बृहत्कथा उस कालके भी पहिले बनी है यह भी सिद्धान्तित हुआ ।”

अच्छा ! अब काशीहीके भूतपूर्व राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द अपने “इतिहास तिमिरनाशक”के तीसरे खंडमें यों लिखते हैं—

“समयके उलटफेरमें हमारे पंडित लोग जो कुछ अपनी पंडिताई दिखलाते हैं लिखने योग्य नहीं है इसी एक बातसे सोच लो कि जिस पंडितसे पाणिनि वैय्याकरणका जमाना पूछोगे पूछतेही कहेगा कि सत्ययुगमें हुआ था लाखों बरस बीते परन्तु इससे इनकार न करेगा

कि कात्यायनकी पतञ्जलिने टीका लिखी और पतञ्जलिकी व्यासने अब हेमचन्द्र अपने कोशमें कात्यायनका नाम वररुचि बतलाता है और कश्मीरका सोमदेवभट्ट अपने कथासरित्सागरमें लिखता है कि कात्यायन वररुचि कौशम्बीमें—जो अब प्रयागके पास जमनाके कनारे कोसम गांव कहलाता है-पैदा हुआ पाणिनीसे व्याकरणमें शास्त्रार्थ किया और राजानन्दका मंत्री हुआ मुद्राराक्षस इत्यादि बहुतसे ग्रन्थोंसे साबित है कि नन्दके बादही चन्द्रगुप्त राज्यसिंहासन पर बैठा और चन्द्रगुप्तका जमाना ऐसा निश्चय ठहर गया है कि जैसा पलासीकी लड़ाई अथवा नादिरशाही अथवा पृथीराज और विक्रमका तो कहो कि हम पाणिनिका जमाना अब अढ़ाई हजार बरससे इधर माने या लाखों बरससे उधर? पतञ्जलि चन्द्रगुप्तके पीछे हुआ इसमें किसी तरहका संदेह नहीं क्योंकि उसने अपने भाष्यमें "सभा राजा मनुष्यपूर्वा" इस सूत्र पर "चन्द्रगुप्तसभम्" ऐसा उदाहण दिया है।"

ये दोनों लेखक हिन्दीके सुलेखकोंमें लब्धप्रतिष्ठ हैं और इन लोगोंने जो कुछ लिखा है अविकल उद्धृत कर दिया गया। अब कतिपय अंग्रेजी भाषाके विद्वानोंने भी अपने अपने ग्रन्थोंमें इस विषय पर लेखनी चलाई है अतएव उसे भी यहां पर प्रकट कर देना आवश्यकता जान पड़ता है—

"डाक्तर राजेन्द्रलाल मित्र यल्० यल्० डी० अपने "इन्डो आर्यन्" नं० १ पृष्ठ १९ में कहते हैं कि—डाक्तर गोल्डस्टकरके कथनानुसार पाणिनीका व्याकरण ईसवी सनके पूर्व नवईं और ग्यारहवीं शताब्दीके भीतर लिखा गया। पर प्रोफेसर मेक्समूलर उसे घटाकर ईसाके पूर्व छठवीं शताब्दी बताते हैं।"

इसी प्रकारसे ऋग्वेदके अनुवादक और वंगविजेता इत्यादि उपन्यासोंके सुलेखक—एवं इसी वर्षके ३० नवम्बरके स्वर्गयात्री—"सर रमेशचन्द्रदत्त" अपने "भारत इतिहास"में लिखते हैं कि—"पाणिनि व्याकरण ईसामसीहके पहिले कमसे कम आठ सौ वर्षके बना था"

अब हमारे विचार-शील पाठकगण स्वयं इन प्राचीन एवं नवीन विद्वानोंके लेखसे अपने चित्तका कुतूहल मिटा लेवें क्योंकि पाणिनि

और कात्यायन अर्थात् वररुचि दोनों ही एकही गुरुके शिष्य प्रमाणित हो चुके हैं वरन पाणिनिके सूत्रोंकी न्यूनता दूर करनेके कारण कात्यायनका वार्तिक अष्टाध्यायी सूत्रपाठके पीछेका बना हुआ जान पड़ता है। यही सही, पर कात्यायन वररुचिही का नाम है इस पर एक बात और भी कह देनी है कि, कोई प्राचीन ऋषिभी कात्यायन हो चुके हैं क्योंकि "मेदिनी कोशमें" यह बात स्पष्ट हो गई है। यथा—

"कात्यायनो वररुचौ, विशेषे च मुनेः पुमान्।
काषायवस्त्रविधवा, र्द्धजरत्युमयोः स्त्रियाम्॥"

अर्थात् पुल्लिङ्ग कात्ययान शब्द वररुचिमें और मुनि विशेषके लिये भी कहा जाता है, एवं कसायरंगका वस्त्र धारण करनेवाली अधेड़ विधवा स्त्री और पार्वतीजीके विषयमें स्त्रीलिङ्ग अर्थात् कात्यायनी होता है। इससे स्पष्ट है कि वररुचिसे भी पहिले कोई कात्यायन ऋषि अवश्यही हो चुके हैं, नहीं तो "याज्ञवल्क्य स्मृति"में कात्यायन-का नाम धर्मशास्त्रकारोंमें कैसे गिनाया जाता? जैसा कि प्रथम अध्यायहीमें लिखा है—

"मन्वत्रिविष्णुहारीत–याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्ब संवर्त्ताः, कात्यायनबृहस्पती॥ ४॥
पराशरव्यासशङ्ख–लिखिता दक्षगोतमौ।
शातातपो वशिष्ठश्च, धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥ ५॥

एवं स्वयं पाणिनिने भी अपने सूत्रपाठमें—"सर्वत्र लोहितादिकत-न्तेभ्यः" (४।१।१८) इस सूत्रसे ष्फ–प्रत्यय करके कात्यायन और कात्यायनी शब्दोंकी रूपसिद्धिकी है। तो अब यह कैसे कहा जा सकता है कि पाणिनिके पूर्वमें कोई कात्यायन नहीं था, यदि था तो उस प्राचीन कात्यायन और वररुचि कात्यायनके समयमे कितना अन्तर हो सकता है इसे आपही लोग सोच विचार लेवें—मैं कुछ भी नहीं कह सकता। क्योंकि मैंने तो सिद्धान्तकौदीमें "श्रीगणेशाय नमः" के अनंतर ही "मुनित्रयं नमस्कृत्य" पढ़ा था और तभीसे कात्या-यनका नाम कर्णगोचर करलिया था पर अब देखता हूं तो एकही कात्यायनसे कार्य नहीं चलता कोई प्राचीनभी कात्यायन जान पड़ते हैं, तो कहिए अब क्या निर्णय किया जावे? क्योंकि जो कुछ

प्रमाण मिलसके वे सब आपलोगोंके संमुख उपस्थित करदिये, अतः जो कुछ उचितहो निर्णय करलीजिये मेरी मंदमति इतना पवारा देख सुन कर भी पुष्पदंतके समयको कुछ भी ठीक नहीं कर सकी क्यों-कि एकही नामके राजा ऋषि और कवियों की ढेर पड़ी है फिर पूर्व कालमें योगादिक क्रियाओंके अभ्यास रखनेके कारण प्रायः उच्चको-टिके लोग दीर्घजीवी भी होते थे यद्यपि गीतामें भगवानने स्वयं यह बात कही है कि—

"स कालेनेह महता, योगो नष्टः परन्तप ! ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं ह्येतदुत्तमम्" ॥ ३ ॥ (अ०४)

वह योग बहुत दिनोंसे नष्ट होगया है, हे परंतप ! आज वही पुराना योग मैंने तुमसे कहदिया, क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो और यह बड़ाही गुप्त विषय है । इस वाक्यसे यह स्पष्ट है कि योगकी क्रियायें उस समयमेंभी नष्ट प्राय थीं परन्तु यह भारतवर्ष जबसे विधर्मी शासकों के हस्तगत हुआ तबसे योगकी क्रियायें और देवमूर्त्तियों की शक्तियां एक साथ ही जाती रहीं, जो हो प्राचीन ऋषि-मुनियों का बहुत कालतक वर्तमान रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है यदि ऐसा नहीं होता तो रघुवंशियों के सैकड़ों पीढ़ीकी पुरोहिती भगवान वशिष्ठजी कैसे कर सकते ? योगी होने—हीसे रा-जर्षिभर्तृहरि आजतक जीवित माने जाते हैं तो अब मैं इन प्राचीन महात्माओं की महिमा कैसे अनुमान कर सकता हूं ? उनलोगोंके जन्म और मृत्युकी तिथि कहांसे बतला सकता हूं ? क्योंकर उनके ग्रंथ निर्माण का समय स्थिर करसकता हूं ?—इन सब बातोंको भली भांति विचारकर आपलोग जो कुछ आज्ञा करें उसीको मैंभी मान लेनेके लिये प्रस्तुत हूं, क्योंकि क्या पुष्पदंत, क्या वररुचि, क्या का-त्यायन, क्या पतञ्जलि, ये सबी लोग एक नहीं वरन अनेक हैं, एवं सबी लोग योगी और परम-दीर्घायु हुए हैं तो ऐसी दशामें अपने मनमाना अनुमान करके दो तीन सहस्र वर्ष कह देनेसे काम निकाल लेना केवल कपोल-कल्पना नहीं तो और क्या है ? हां वर-रुचिके लिये यह समय कहदिया जावे तो कोई अनुचित नहीं हो स-

कता, पर पुष्पदंतका समय उक्त प्रमाणोंसे नहीं सिद्ध हो सकता, अतएव अब इस विषय पर विशेष वाग्-वितंडा करना सर्वथा व्यर्थ-ही सा ज्ञात होता है, तो फिर "सबसे भला चुप" ।

निवेदक-

अर्वाचीन टीकाकार

॥ श्रीः ॥

॥ शिवमहिम्नः स्तोत्रम् ॥

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः ।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृण-
न्ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ॥ १ ॥
अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥ २ ॥
मधुस्फीता वाचः परममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम् ।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥ ३ ॥
तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृ-
त्त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ।
अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥ ४ ॥
किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥ ५ ॥
अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥ ६ ॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ ७ ॥
महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।
सुरास्तां तामृद्धिं विदधति भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥ ८ ॥
ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्तेऽप्येतस्मिन्पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवञ्जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥ ९ ॥
तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरु गृणद्भ्यां गिरिश य-
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १० ॥
अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान् ।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥ ११ ॥
अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥ १२ ॥
यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्य ह्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥ १३ ॥
अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥ १४ ॥

असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभू-
त्स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः ॥ १५ ॥
महीपादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥ १६ ॥
वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमि-
त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥ १७ ॥
रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥ १८ ॥
हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥ १९ ॥
क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥ २० ॥
क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुषु फलदानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥ २१ ॥
प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥ २२ ॥

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नायतृणव-
त्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि ।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरतदेहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥ २३ ॥
श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैव मखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥ २४ ॥
मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥ २५ ॥
त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥ २६ ॥
त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिद धत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तव्यस्तं त्वां शरद गृणात्योमिति पदम् ॥ २७ ॥
भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सह महां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते ॥ २८ ॥
नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नमः ॥ २९ ॥
बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोत्पत्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥ ३० ॥

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकित ममन्दीकृत्य मां भक्ति राधा-
द्वरद चरणयो स्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धु पात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्र मुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सार्वकालं
तदपि तव गुणाना मीश पारं न याति ॥ ३२ ॥

असुरसुरमुनीन्द्रैरर्चितस्ये न्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्ये श्वरस्य ।
सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिर मलघुवृत्तैः स्तोत्र मेत च्चकार ॥ ३३ ॥

अहरह रनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्र मेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमा न्यः ।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्य स्तथात्र
प्रचुरतधनायुः पुत्रवा न्कीर्तिमां श्च ॥ ३४ ॥

दीक्षा दानं तप स्तीर्थं होमयागादिकाः क्रियाः ।
महिम्नः स्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३५ ॥

महेशा न्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरा न्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्वं गुरोः परम् ॥ ३६ ॥

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शिशुशशिधरमौले र्देवदेवस्य दासः ।
स गुरुनिजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-
त्स्तवन मिद मकार्षी द्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥ ३७ ॥

आसमाप्त मिदं स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम् ।
अनौपम्यं मनोहारि शिव मीश्वरवर्णनम् ॥ ३८ ॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलि र्नान्यचेताः ।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमान-
स्तवन मिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३९ ॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ४० ॥

इति श्री पुष्पदन्तविरचितं

शिवमहिम्नः स्तोत्रम्

संपूर्णम् ।

नित्यपाठोपयोगित्वा देतन्मूलमात्र मपि श्रीशिवमहिम्नःस्तोत्रं शक्ति महिम्नःस्तोत्र साहचर्य्यादेव पृथग्रूपेणेह मुद्रितम् ।

॥ श्रीः ॥

शक्तिमहिम्नःस्तोत्रम् ।

श्री दुर्वासा उवाच—

मातस्ते महिमां वक्तुं शिवेनापि न शक्यते ।
भक्त्याहं स्तोतुमिच्छामि प्रसीद मम सर्वदा ॥ १ ॥

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोकीमहा-
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम् ।
उद्यद्भानुसहस्रनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिकोणनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम् ॥

आदिक्षान्तसमस्तवर्णसुमणिप्रोते वितानप्रभे
ब्रह्मादिप्रतिमाभिकीलितषडाधाराब्जकक्षोन्नते ।
ब्रह्माण्डाब्जमहासने जननि ते मूर्तिं भजे चिन्मयीं
सौषुम्नायतपीतपङ्कजमहामध्यत्रिकोणस्थिताम् ॥ ३ ॥

या बालेन्दुदिवाकराक्षिमधुरा या रक्तपद्मासना
रत्नाकल्पविराजिताङ्गलतिका पूर्णेन्दुवक्त्रोज्ज्वला ।
अक्षस्रक्सृणिपाशपुस्तककरा या बालभानुप्रभा
तां देवीं त्रिपुरां शिवां हृदि भजेऽभीष्टार्थसिद्ध्यै सदा ॥ ४ ॥

वन्दे वाग्भवमैन्दवात्मसदृशं वेदादिविद्यागिरो
भाषा देशसमुद्भवाः पशुगताश्छन्दांसि सप्त स्वरान् ।
तालान्पञ्च महाध्वनीन्प्रकटयत्यात्मप्रकाशेन य-
त्तद्बीजं पदवाक्यमानजनकं श्रीमातृके ते परम् ॥ ५ ॥

त्रैलोक्यस्फुटमन्त्रतन्त्रमहिमा स्वात्मोक्तिरूपं विना
यद्बीजं व्यवहारजालमखिलं नास्त्येव मातस्तव ।
तज्जाप्यस्मरणप्रसक्तसुमतिः सर्वज्ञतां प्राप्य कः
शब्दब्रह्मनिवासभूतवदनो नेन्द्रादिभिः स्पर्धते ॥ ६ ॥

मात्रा यात्र विराजतेऽतिविशदा तामष्टधा मातृकां
शक्तिं कुण्डलिनीं चतुर्विधतनुं यस्तत्त्वविन्मन्यते ।
सोऽविद्याखिलजन्मकर्मदुरितारण्यं प्रबोधाग्निना
भस्मीकृत्य विकल्पजालरहितो मातः पदं तद् व्रजेत् ॥ ७ ॥
तत्ते मध्यमबीजमम्ब कलयाम्यादित्यवर्णं क्रिया-
ज्ञानेच्छाद्यमनन्तशक्तिविभवव्यक्तिं व्यनक्ति स्फुटम् ।
उत्पत्तिस्थितिकल्पकल्पिततनु स्वात्मप्रभावेन य-
त्कार्यं ब्रह्महरीश्वरादिविबुधैः कामं क्रियायोजितैः ॥ ८ ॥
कामान्कारणतां गतानगणितान्कार्यैरनन्तैर्मही-
मुख्यैः सर्वमनोगतैरधिगतान्मानैरनेकैः स्फुटम् ।
कामक्रोधसलोभमोहमदमात्सर्यारिषट्कं च यत्
बीजं भ्राजयति प्रणौमि तदहं ते साधु कामेश्वरि ॥ ९ ॥
यद्भक्ताखिलकामपूरणचणस्वात्मप्रभावं महा-
जाड्यध्वान्तविदारणैकतरणिज्योतिः प्रबोधप्रदम् ।
यद्वेदेषु च गीयते श्रुतिमुखं मात्रात्रयेणोमिति
श्रीविद्ये तव सर्वराजवशकृत्तत्कामराजं भजे ॥ १० ॥
यत्ते देवि तृतीयबीजमनलज्वालावलीसंनिभं
सर्वाधारतुरीयशक्तिपरमब्रह्माभिधाशब्दितम् ।
मूर्धन्यान्तविसर्गभूषितमहौकारात्मकं तत्परं
भ्राजद्रूपमनन्यतुल्यमभितः स्वान्ते मम द्योतताम् ॥११॥
सर्वं सर्वत एव सर्गसमये कार्येन्द्रियाण्यन्तरा
तत्तद्दिव्यहृषीककर्मभिरियं संव्यश्नुवाना परा ।
वागर्थव्यवहारकारणतनुः शक्तिर्जगद्रूपिणी
यद्बीजात्मकतां गता तव शिवे तं नौमि बीजं परम् ॥१२॥
अग्नीन्दुद्युमणिप्रभञ्जनधरानीरान्तरस्थायिनी
शक्तिर्ब्रह्महरीशवासवमुखा मर्त्यासुरात्मस्थिता ।
सूक्ष्मस्थावरजङ्गमस्थितमहाचैतन्यरूपा च या
यद्बीजस्मरणेन सैव भवती प्रादुर्भवत्यम्बिके ॥ १३ ॥
स्वात्मश्रीविजिताजविष्णुमघवश्रीपूरणैकव्रतं
सद्विद्याकविताविलासलहरीकल्लोलिनीदीपकम् ।
बीजं यत्त्रिगुणप्रवृत्तिजनकं ब्रह्मेति यद्योगिनः
शान्ताः सत्यमुपासते तदिह ते चित्ते दधे श्रीपरे ॥ १४ ॥

एकैकं तव मातृके परस्तरं संयोगि वा योगि वा
विद्यादिप्रकटप्रभावजनकं जाड्यान्धकारापहं ।
यन्निष्ठाश्च महोत्पलासनमहाविष्णुप्रहर्त्रादयो
देवाः स्वेषु विधिष्वनन्तमहिमस्फूर्तिं दधत्येव तत् ॥१५॥
इत्थं त्रीण्यपि मूलवाग्भवमहाश्रीकामराजस्फुर-
च्छक्त्याख्यानि चतुःश्रुतिप्रकटितान्युत्कृष्टकूटानि ते ।
भूततुश्रुतिसंख्यवर्णविदितान्यारक्तकान्ते शिवे
यो जानाति स एव सर्व जगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकः ॥१६॥
ब्रह्मायोनिरमासुरेश्वरसुहृल्लेखाभिरुक्तैस्तथा
मार्ताण्डेन्दुमनोजहंसवसुधामायाभिरुत्तंसितैः ।
सोमाम्बुक्षितिशक्तिभिः प्रकटितैर्बाणाङ्गवेदैः क्रमा-
द्वर्णैः श्रीशिवदेशिकेन विदितां विद्यां तवाम्बाश्रये ॥१७॥
नित्यं यस्तव मातृकाक्षरसखीं सौभाग्यविद्यां जपे-
त्संपूज्याखिलचक्रराजनिलयां सायंतनाग्निप्रभाम् ।
कामाख्यं शिवनामतत्त्वमुभयं व्याप्यात्मना सर्वतो
दीव्यन्तीमिह तस्य सिद्धिरचिरात्स्यात्त्वत्स्वरूपैकता ॥१८॥
काव्यैर्वा पठितैः किमल्पविदुषां जोघुष्यमाणैः पुनः
किं तैर्व्याकरणैर्विबोबुधिषया किं वाभिधानश्रिया ।
एतैरम्ब न बोभवीति सुकविस्तावत्तव श्रीमतो-
र्यावन्नानुसरीसरीति सरणिं पादाब्जयोः पावनीम् ॥१९॥
गेहं नाकति गर्वितः प्रणतति स्त्रीसंगमो मोक्षति
द्वेषी मित्रति पातकं सुकृतति क्ष्मावल्लभो दासति ।
मृत्युर्वैद्यति दूषणं सुगुणति त्वत्पादसंसेवनात्
त्वां वन्दे भवभीतिभञ्जनकरीं गौरीं गिरीशप्रियाम् ॥२०॥
आद्यैरग्निरवीन्दुबिम्बनिलयैरम्ब त्रिलिङ्गात्मभि-
र्मिश्रारक्तसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः ।
स्वात्मोत्पादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयै-
रुद्भूतं त्रिपुरेति नाम कलयेद्यस्ते स धन्यो बुधः ॥ २१ ॥
आद्यो जाप्यतमार्थवाचकतया रूढः स्वरः पञ्चमः
सर्वोत्कृष्टतमार्थवाचकतया वर्णः पवर्गान्तकः ।
वक्तृत्वेन महाविभूतिसरणिस्त्वाधारगो हृद्गतो
भ्रूमध्ये स्थित इत्यतः प्रणवता ते गीयतेऽम्बागमैः ॥२२॥

गायत्री सशिरास्तुरीयसहिता सन्ध्यामयीत्यागमै-
राख्याता त्रिपुरे त्वमेव महतां शर्मप्रदा कर्मणाम् ।
तत्तद्दर्शनमुख्यशक्तिरपि च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी
कर्ताऽर्हन्पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः ॥२३॥
अन्नप्राणमनःप्रबोधपरमानन्दैः शिरःपक्षयु-
क्पुच्छात्मप्रकटैर्महोपनिषदां वाग्भिः प्रसिद्धीकृतैः ।
कोशैः पञ्चभिरेभिरम्ब भवतीमेतत्प्रलीनामिति
ज्योतिः प्रज्वलदुज्ज्वलात्मचपलां यो वेद स ब्रह्मवित् ॥२४॥
सच्चित्त्वमसीति वाक्यविदितैरध्यात्मविद्याशिव-
ब्रह्माख्यैरखिलप्रभावमहितैस्तत्त्वैस्त्रिभिः सद्गुरोः ।
त्वद्रूपस्य मुखारविन्दविवरात्संप्राप्य दीक्षामतो
यस्त्वां विन्दति तत्त्वतस्तदहमित्यार्ये स मुक्तो भवेत् ॥२५॥
सिद्धान्तैर्बहुभिः प्रमाणगदितैरन्यैरविद्यातमो
नक्षत्रैरिव सर्वमन्धतमसं तावन्न निर्भिद्यते ।
यावत्ते सवितेव संमतमिदं नोदेति विश्वान्तरे
जन्तोर्जन्मविमोचनैकभिदुरं श्रीशाम्भवं श्रीशिवे ॥२६॥
आत्मासौ सकलेन्द्रियाश्रयमनोबुद्ध्यादिभिः शोचितः
कर्माबद्धतनुर्जनिं च मरणं प्रैतीति यत्कारणम् ।
तत्ते देवि महाविलासलहरी दिव्यायुधानां जय-
स्तस्मात्सद्गुरुमभ्युपेत्य कलये त्वामेव चेन्मुच्यते ॥ २७ ॥
नानायोनिसहस्रसंभववशाज्जाता जनन्यः कति
प्रख्याता जनकाः कियन्त इति मे सेत्स्यन्ति चाग्रे कति ।
एतेषां गणनैव नास्ति महतः संसारसिन्धोर्विधे-
र्भीतं मा नितरामनन्यशरणं रक्षानुकम्पानिधे ॥ २८ ॥
देहक्षोभकरैर्व्रतैर्बहुविधैर्दानैश्च होमैर्जपैः
संतानैर्हयमेधमुख्यसुमखैर्नानाविधैः कर्मभिः ।
यत्संकल्पविकल्पजालमखिलं प्राप्यं पदं तस्य ते
दूरादेव निवर्तते परतरं मातः पदं निर्मलम् ॥ २९ ॥
पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरमयैर्नानाविधैर्धातुभि-
र्बह्वर्थैः पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनाभावितैः ।
साभिप्रायवदर्थकर्मफलदैः ख्यातैरनन्तैरिदं
विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके ॥ ३० ॥

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकं
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः ।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे ॥ ३१ ॥

बिन्दुप्राणविसर्गजीवसहितं बिन्दुत्रिबीजात्मकं
षट्कूटानि विपर्ययेण निगदेत्तारत्रिबालाक्षरैः ।
एभिः संपुटितं प्रजप्य विहरेत्प्रासादमन्त्रं परं
गुह्याद्गुह्यतमं सयोगजनितं सद्भोगमोक्षप्रदम् ॥ ३२ ॥

आताम्रार्कसहस्रदीप्तिपरमा सौन्दर्यसारैरलं
लोकातीतमहोदयैरुपयुता सर्वोपमागोचरैः ।
नानानर्घ्यविभूषणैरगणितैर्जाज्वल्यमानाभित-
स्त्वं मातस्त्रिपुरारिसुन्दरि कुरु स्वान्ते निवासं मम ॥३३॥

शिञ्जन्नूपुरपादकङ्कणमहामुद्रासु लाक्षारसा-
लंकाराङ्कितपादपङ्कजयुगं श्रीपादुकालंकृतम् ।
उद्भास्वन्नखचन्द्रखण्डरुचिरं राजज्जपासंनिभं
ब्रह्मादित्रिदशासुरार्चितमहं मूर्ध्नि स्मराम्यम्बिके ॥ ३४ ॥

आरक्तच्छविनातिमार्दवयुजा निःश्वासहार्येण य-
त्कौशेयेन विचित्ररत्नघटितैर्मुक्ताफलैरुज्ज्वलैः ।
कूजत्काञ्चनकिङ्किणीभिरभितः संनद्धकाञ्चीगुणै-
रादीप्तं सुनितम्बबिम्बमरुणं ते पूजयाम्यम्बिके ॥ ३५ ॥

कस्तूरीघनसारकुङ्कुमरजो गन्धोत्कटैश्चन्दनै-
रालिप्तं मणिमालयातिरुचिरं ग्रैवेयहारादिभिः ।
दीप्तं दिव्यविभूषणैर्जननि ते ज्योतिर्विभास्वत्कुच-
व्याजस्वर्णघटद्वयं हरिहरब्रह्मादिपीतं भजे ॥ ३६ ॥

मुक्तारत्नसुवर्णकान्तिकलितैस्ते बाहुवल्लीरहं
केयूरोत्तमबाहुदण्डवलयैर्हस्ताङ्गुलीभूषणैः ।
संपृक्ताः कलयामि हीरमणिसन्मुक्ताफलाकीलित-
ग्रीवापट्टविभूषणेन सुभगे कण्ठं च कम्बुश्रियम् ॥ ३७ ॥

तप्तस्वर्णकृतोरुकुण्डलयुगं माणिक्यमुक्तोल्लस-
द्धीराबद्धमनन्यतुल्यमपरं हैमं च चक्रद्वयम् ।
शुक्राकारनिकारदक्षमपरं मुक्ताफलं सुन्दरं
बिभ्रत्कर्णयुगं नमामि ललितं नासाग्रभागं शिवे ॥ ३८ ॥

उद्यत्पूर्णकलानिधिश्रि वदनं भक्तप्रसन्नं सदा
संफुल्लाम्बुजपत्रचित्रसुषुमा धिक्कारदक्षेक्षणम् ।
सानन्दं कृतमन्दहासमसकृत्प्रादुर्भवत्कौतुकं
कुन्दाकारसुदन्तपङ्क्तिशशिभापूर्णं स्मरास्यम्बिके ॥ ३९ ॥
शृङ्गारादिरसालयं त्रिभुवनीमाल्यैरतुल्यैर्वृतं
सर्वाङ्गीणसदङ्गरागसुरभिश्रीमद्वपुर्धूपितम् ।
ताम्बूलारुणपल्लवाधरयुतं रम्यं त्रिपुण्ड्रं दध-
द्भालं नन्दनचन्दनेन जननि ध्यायामि ते मङ्गलम् ॥ ४० ॥
जातीचम्पककुन्दकेसरमहागन्धोद्गिरत्केतकी
नीपाशोकशिरीषमुख्यकुसुमैः प्रोत्तंसिता धूपिता ।
आनीलाञ्जनतुल्यमत्तमधुपश्रेणीव वेणी तव
श्रीमातः श्रयतां मदीयहृदयाम्भोजं सरोजालये ॥ ४१ ॥
लेखालम्भ्यविचित्ररत्नघटितं हैमं किरीटोत्तमं
मुक्ताकाञ्चनकिङ्किणीगणमहाहीरप्रबद्धोज्ज्वलं ।
चञ्चच्चन्द्रकलाकलापमहितं देवद्रुपुष्पार्चितै-
र्माल्यैरम्ब विलम्बितं सशिखरं बिभ्रच्छिरस्ते भजे ॥ ४२ ॥
उत्क्षिप्तोच्चसुवर्णदण्डकलितं पूर्णेन्दुबिम्बाकृति-
च्छत्रं मौक्तिकचित्ररत्नखचितं क्षौमांशुकोत्तंसितम् ।
मुक्ताजालविलम्बितं सकलशं नानाप्रसूनार्चितं
चन्द्रोड्डामरचामराणि दधते श्रीदेवि ते स्वश्रियः ॥४३॥
विद्यामन्त्ररहस्यविन्मुनिगणक्लृप्तोपचारार्चनां
वेदादिस्तुतिगीयमानचरितां वेदान्ततत्त्वात्मिकाम् ।
सर्वास्ताः खलु तुर्यतामुपगतास्त्वद्रश्मिदेव्यः परा-
स्त्वां नित्यं समुपासते स्वविभवैः श्रीचक्रनाथे शिवे ॥ ४४॥
एवं यः स्मरति प्रबुद्धसुमतिः श्रीमत्स्वरूपं परं
वृद्धोऽप्याशु युवा भवत्यनुपमः स्त्रीणामनङ्गायते ।
सोऽष्टैश्वर्यतिरस्कृताखिलसुरश्रीजृम्भणैकालयः
पृथ्वीपालकिरीटकोटिवलभीपुष्पार्चिताङ्घ्रिर्भवेत् ॥ ४५॥
अथ तव धनुः पुण्ड्रेक्षुत्वात्प्रसिद्धमतिद्युति-
त्रिभुवनवधूमुग्धज्योत्स्नाकलानिधिमण्डलम् ।
सकलजननि स्मारं स्मारं गतः स्मरतां नर-
स्त्रिभुवनवधूमोहाम्भोधेः प्रपूर्णविधुर्भवेत् ॥ ४६ ॥

प्रसूनशरपञ्चकप्रकटजृम्भणागुम्फित-
त्रिलोकमवलोकयत्यमलचेतसा चञ्चलम् ।
अशेषतरुणीजनस्मरविजृम्भणे यः सदा
पटुर्भवति ते शिवे त्रिजगदङ्गणाक्षोभणे ॥ ४७ ॥

पाशं प्रपूरितमहासुमतिप्रकाशो
यो वा तव त्रिपुरसुन्दरि सुन्दरीणाम् ।
आकर्षणेऽखिलवशीकरणे प्रवीणं
चित्ते दधाति स जगत्त्रयवश्यकृत्स्यात् ॥ ४८ ॥

यः स्वान्ते कलयति कोविदस्त्रिलोकी-
स्तम्भारम्भणचणमत्युदारवीर्यम् ।
मातस्ते विजयनिजाङ्कुशं सयोषा
देवांस्तम्भयति च भूभुजोऽन्यसैन्यम् ॥ ४९ ॥

चापध्यानवशाद्भवोद्भवमहामोहं महाजृम्भणं
प्रख्यातं प्रसवेषु चिन्तनवशात्तत्तच्छरव्यं सुधीः ।
पाशध्यानवशात्समस्तजगतां मृत्योर्वशित्वं महा-
दुर्गस्तम्भमहाङ्कुशस्य मननान्मायाममेयां तरेत् ॥ ५० ॥

न्यासं कृत्वा गणेशग्रहभगणमहायोगिनीराशिपीठैः
षड्भिः श्रीमातृकार्णैः सहितबहुकलैरष्टवाग्देवताभिः
सश्रीकण्ठादियुग्मैर्विमलनिजतनौ केशवाद्यैश्च तत्त्वैः
षट्त्रिंशद्भिश्च तत्त्वैर्भगवति भवतीं यः स्मरेत्स त्वमेव५१

सुरपतिपुरलक्ष्मीजृम्भणातीतलक्ष्मीः
प्रभवति निजगेहे यस्य दैवं त्वमार्ये ।
विविधतवकलानां पात्रभूतस्य तस्य
त्रिभुवनविदिता सा जृम्भते कीर्तिरच्छा ॥ ५२ ॥

मातस्त्वं भूर्भुवः स्वर्महरसि नृतपः सत्यलोकैश्च सूर्ये-
न्द्वारज्ञाचार्यशुक्रार्किभिरपि निगमब्रह्मभिः प्रोतशक्तिः ।
प्राणायामादियत्नैः कलयसि सकलं मानसं ध्यानयोगं
येषां तेषां सपर्या भवति सुरकृता बह्नते जातते च ॥ ५३॥

क्व मे बुद्धिर्वाचा परमविदुषो मन्दसरणिः
क्व ते मातर्ब्रह्मप्रमुखविदुषामाप्तवचसाम् ।
अभून्मे विस्फूर्तिः परतरमहिम्नस्तव नुतिः
प्रसिद्धं क्षन्तव्यं बहुलतरचापल्यमिह मे ॥ ५४ ॥

प्रसीद परदेवते मम हृदि प्रभूतं भयं
विदारय दरिद्रतां दलय देहि सर्वज्ञताम् ।
निधेहि करुणानिधे चरणपद्मयुग्मं स्वकं
निवारय जरामृती त्रिपुरसुन्दरि श्रीशिवे ॥ ५५ ॥
इति त्रिपुरसुन्दरीस्तुतिमिमां पठेद्यः सुधीः
स सर्वदुरिताटवीपटलचण्डदावानलः ।
भवेन्मनसि वाञ्छितं प्रथितसिद्धिवृद्धिर्भवेत्
अनेकविधसंपदां पदमनन्यतुल्यो भवेत् ॥ ५६ ॥
पृथ्वीपालप्रकटमकुटस्रग्रजोराजिताङ्घ्रिः
विद्वत्पुञ्जानतिसमाराधितो बाधितारिः ।
विद्याः सर्वाः कलयति हृदा व्याकरोति प्रवाचा
लोकाश्चर्यैर्नवनवपदैरिन्दुबिम्बप्रकाशैः ॥ ५७ ॥
संगीतं गिरिजे कवित्वसरणिं चाम्नाय वाक्यस्मृतेः
व्याख्यानं हृदि तावकीनचरणद्वन्द्वं च सर्वज्ञताम् ।
श्रद्धां कर्मणि कालिकेऽतिविपुलश्रीजृम्भणं मन्दिरे
सौन्दर्यं वपुषि प्रकाशमतुलं प्राप्नोति विद्वान्कविः ॥ ५८ ॥
भूष्यं वैदुष्यमुद्यद्दिनकरकिरणाकारमाकारतेजः
सुव्यक्तं भक्तिमार्गं निगमनिगदितं दुर्गमं योगमार्गम् ।
आयुष्यं ब्रह्मपोष्यं हरगिरिविशदां कीर्तिमभ्येत्य भूमौ
देहान्ते ब्रह्मपारं परशिवचरणाकारमभ्येति विद्वान् ॥ ५९ ॥
दुर्वाससा महितदिव्यमुनीश्वरेण
विद्याकलायुवतिमन्मथमूर्तिनैतत् ।
स्तोत्रं व्यधायि रुचिरं त्रिपुराम्बिकायाः
वेदागमैकपटलीविदितैकमूर्तेः ॥ ६० ॥
सदसदनुग्रहनिग्रहगृहीतमुनिविग्रहो भगवान् ।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ॥

इति श्रीदुर्वासोमहामुनिविरचिता

शक्तिमहिम्नः स्तुतिः समाप्ता ॥

श्रीमहिम्नस्तोत्रके श्लोकोंका अकारादिक्रम
और
पुराणोंकी कथाओंका संगठन ।

श्लोकाङ्क श्लोकादिपद । पौराणिककथाओंका उल्लेख ।

१४ । अकाण्डब्रह्माण्ड- शिवपुराण सनत्कुमारसंहिता ५१ अध्याय ।
मत्स्यपुराण २५० अ० ।
स्कन्दपुराणमाहेश्वरखण्ड ९ । १० अ०
(कालकूट महाविषकी कथा) ।

६ । अजन्मानो लोकाः-शिवपुराण वायवीयसंहिता २६ अ०
(नास्तिक्यनिराकरण) ।

२ । अतीतः पन्थानं—

१२ । अमुष्यत्वत्सेवा—शिवपुराण ज्ञानसंहिता ५६ अ० ।

११ । अयत्नादापाद्य—शिवपु० ज्ञानसं० ५५ अ० ।

३२ । असितगिरिसमं-

१५ असिद्धार्थानैव—स्कन्दपुराणमाहेश्वरखण्ड २१ अ० तथा
प्रभासखण्ड २०० अ० ।
शिवपुराण ज्ञानसंहिता ११ अ० ।
एवं धर्मसंहिता-८ अ० से १४ तक ।
मत्स्य पुराण १५४ अ० ।
(मदनदहनकथा)

३३ । असुरसुरमुनीन्द्रैः—

३४ । अहरहरनवद्यं—

३६ । आसमाप्तमिदं—

४१ । इत्येषा वाङ्मयी—

४३ । एक कालं—

५ । किंमीहः किंकायः-शिवपु०वायवीयसं० २६ अ० (पूर्वोक्त)

३८ । कुसुमदशननामा— स्कन्दपुराणप्रभासखण्ड प्रभासमाहात्म्य
१८० अ० । (पुष्पदन्तेश्वर कथा ।)

३१। कृशपरिणति— स्कन्दपुराण ब्राह्मखं.के ब्राह्मोत्तरखं.१४अ०
शिवपुराण वायवीयसं० उत्तरार्द्ध०८ अ०
तथा च शिव पु० ज्ञानसंहिता ७।
८ अ० (भक्तिवर्णन)

२०। कृतौ सुप्ते जाग्रत्—शिवपु० वायवीयसं० १६अ०से२०पर्य्यन्त
(दक्षकथाका उपोद्घात।)

२१। क्रियादक्षोदक्षः—स्कन्दपु०माहेश्वरख० १ अ०से५ अ०तक।
,, प्रभासखं० १९६ अ० और
काशीखण्ड ८७। ८८। ८९ अ०।
(दक्षयज्ञविध्वंसकी कथा सर्वपुराणोंमे है)।

४२। तवतत्त्वं—

४। तवैश्वर्य्यंयत्नत्—पूर्वोक्तशिवपु० वायवीयसं० २६ अ०।

१०। तवैश्वर्य्यंयत्नात्—स्कन्दपु० माहेश्वरखं०अरुणाचलमाहात्म्य १ । २। अ० पुनः अरुणाचलमा०
उत्तरार्धमे९अ०से १६पर्य्यन्त एवं पुनः—
स्कन्द पु० ब्राह्मख० सेतुमाहात्म्य १४ अ०
तथा २४ अ० स्कन्दपु० प्रभासख० अर्बुदख० ३४ और
स्कन्द पु० माहेश्वरखं० ६ अ०।
शिवपु० विद्येश्वरसं० ४। ५। ६ अ०
और ज्ञान सं० २७अ०। और भी बहुशः।

७। त्रयीसांख्यंयोगः—नारदीयपु० पूर्वार्द्ध ६३ अ०।
शिवपु० वायवीयसं० पूर्वभाग २८। २९
अ० एवं उत्तरभाग २९ अ० योगवर्णन एवं
२ अ० मे पाशुपतादिवर्णन तथा सनत्कुमारसं० ५६ अ०

२७। त्रयीं तिस्रोवृत्तीः—शिवपु०कैलाससंहिता समग्र।
ज्ञानसंहिता३अ०। वायवीयसं० उत्तरभाग
७ अ०। सनत्कुमारसं० ३२ अ० (और
भी बहुशः ओंकारवर्णन)
स्कन्दपु० नागरख०१९९अ०(त्रयीवर्णन)।

२६ । त्वमर्कस्त्वं सोमः—कूर्मपुराणब्राह्मी सं० पूर्वार्द्ध—१५ अ०।
२५ । दीक्षादानं तपः—नारदीयं पु० पूर्वार्द्ध ६४ अ०। तथा शिव पु० ज्ञानसंहिता १४ अ० (दीक्षा-विधि) स्कन्द पु० प्रभासखं० प्रथम—१९ अ० (षोडशकला वर्णन)।
९ । ध्रुवंकश्चित्सर्वं—
२९ । नमोनेदिष्ठाय— स्कन्द पु० वैष्णव खं० अ० ४२ श्लो० ५०
२२ । प्रजानाथं नाथ— शिव पु० ज्ञानसंहिता ४२ अ०। मत्स्य पु० ३ । ४ अ० । एवं स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्डे सेतुमाहात्म्य ४० अ०।
३० । बहल रजसे— शिव पु० वायवीय सं० पूर्वभाग १२ अ० से १५ अ० तक (रुद्र सृष्ट्यादि वर्णन)।
२८ । भवः शर्वो रुद्रः— कूर्म पु० ब्राह्मी संहिता पूर्वार्द्ध १५ अ०। तथा स्कन्द पु० प्रभास खं० वस्त्रापथ ख० २ । ९ अ०। (भवशब्द व्युत्पत्त्यादि ।)
३ । मधुस्फीतावाचः— शिव पु० ज्ञानसंहिता ३ अ० (शिव का शब्दमय होना वर्णित है ।)
२५ । मनः प्रत्यग्चित्ते— नारदीय पु० पूर्वार्द्ध ३३ अ०। शिव पु० सनत्कुमार सं० ४० । ५७ । ५८ अ० तथा—शिव पु० विद्येश्वर सं० २ अ० (एवं अन्यत्र भी बहुशः योग वर्णन मिलता है ।)
१ । महिम्नः पारंते—
१६ । महीपादाघातात्— स्कन्द पु० नागर खं० २५४ अ० (हरताण्डव कथा)।
३७ । महेशाज्ञापरो— शिव पु० धर्मसंहिता ४० अ० (अघोरकल्प-की कथा)।
८ । महोक्षः खट्वाङ्गं— स्कन्द पु० ब्राह्मखंड-ब्राह्मोत्तर खं० १५ । १६ । १७ अ० ।शिव पु० सनत्कुमार सं० २९ अ०। (भस्म प्रशंसा)।

१३। यदृद्धिं सुत्राम्णो— मत्स्य पु० १८८ अ० तथा—
शिव पु० धर्मसंहिता ७ अ०। (वाणासुरकथा)

१८। रथःक्षोणीयन्ता— स्कन्द पु० आवन्त्य खं० अवन्ती खंड ४३ अ०। मत्स्य पु० १२९ अ० से १४० अ० पर्य्यन्त। शिव पु० धर्म सं० ३ अ०। सनत्कुमारसंहिता ५२। ५३। ५४ अ०। ज्ञान सं० २४ अ०। (त्रिपुरदाह कथा)

१७। वियद्व्यापी तारा— स्कन्द पु० काशी खण्ड—२७। २८ अ० (गंगा माहात्म्य) पुनःस्कन्द पु० अवन्ती ख० चतुरशीतिलिङ्गमाहात्म्य ४२ अ०। और नागर खं० हाटकेश्वरक्षेत्र-माहात्म्य १३० अ० (इस पद्य का भाव स्पष्ट है)।

२४। श्मशानेष्वाक्रीडा— शिव पु० सनत्कुमार सं० ३० अ०। तथा च स्कन्द पु० ब्राह्मखंड-ब्राह्मोत्तर २२ अ०। (शिव-स्मरणमहिमा) और नारदीय पु० पूर्वार्द्ध ४१ अ० (नामस्मरणमाहात्म्य)

४०. श्रीपुष्पदन्त— स्कन्दपु० प्रभासखण्ड प्रभास माहात्म्य १८० अ० तथा आवन्त्य खं० ७७ अ० (पुष्पदन्तेश्वर कथा सविस्तर वर्णित है।)

३९। सुरवरमुनि—

२३। स्वलावण्याशंसा— शिव पु० वायवीय सं० १३ अ० (अर्द्धनारीश्वरवर्णन)

१९। हरिस्ते साहस्रं— शिव पु० ज्ञान सं० ७० अ०। (विष्णुकृतपूजनवर्णन)।

शुभमस्तु।

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

नम्रनिवेदन।

"गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव विपश्चितः।"

जब अक्षरोंका जंगल ही लगाया जा रहा है तो भूल चूक होना भी आवश्यक है, अतः जिन अशुद्धियों पर दृष्टि पड़ी है उनका शोधन कर दिया गया है, एतद्भिन्न और भी जो रह गई हों उन्हे शुद्ध करलेने की प्रार्थना है।

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
आश्चर्य की	आश्चर्य का	१४	२
स्रोलोक्ये	त्रैलोक्ये	१५	२७
(गुणार्भिन्नासु)	(गुणभिन्नासु)	१६	११
विनाशश्च	विनाशश्च तान्	१६	१४
भगवतः	भवतः	१६	१५
यापिष्ठानां	पापिष्ठानां	१६	१८
साफ्वाद	सापवाद	१६	१९
स्स्तुतः	स्स्तुतौ	१६	२३
घ्यपायेन	ह्युपायेन	१९	२५
देहं	देह	२१	३
कां	को	२१	२६
भयलोक	त्रयलोक	२२	१९
बतरावहि	बतरावहिं	२२	२२
भवत्पऱिकराव्राते,	भवेत्परिकरो व्राते,	२४	१९
लीहै	लीहे	२६	१०
प्रयाजन	प्रयोजन	२८	११
शन्दोविचिति	छन्दोविचित्ति	३१	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
वुपयोगिनि	वुपयोगीनि	३१	१५
चतुर्थपादे	चतुर्थपादे	३५	२७
मास्तकाना	मास्तिकाना	३७	३
मप्येवमुक्तं यथाप्ये	अप्येवमुक्तं यथा	३७	२५
नृणां	नृणां	३८	९
जलोंके	जलोंके	३९	१
पहुंच नेकेस्थान	पहुंचनेके स्थान	३९	३
छन्दोविशेष	छन्दोविशेष	४१	२७
अवातंर	अवांतर	४२	३
देवतओं	देवताओं	४५	२६
स्वयमव	स्वयमेव	५९	११
भवती	भवतो	६०	९
कृते	कृत	६३	१२
स्तैति	स्तौति	७७	११
विलोकयन्	विलोकयन्न्	७२	४
उधारा	उधारा	८०	३
(भ्राम्यद्भुज रिघ-)	(भ्राम्यद्भुजपरिघ-)	८३	२१
जगत	जागत	९५	१४
पै	पै	९५	१७
वही	वही	९९	८
न्याक्षीणी	न्यक्षाणी	१०१	३
मिवा	मिवा	१०५	२५
औराको	औरोंको	१०७	५
सिकारि	सिकारो	१०७	१४
हथै	हाथै	१०७	१९
शंस	शंसा	१०७	२०
प्राप्नोति	प्राप्नोत्विति	१०८	९
स्रेणं	स्रैणं	१०८	१०
सहजान	सहजानां	१०८	१५
(अह्नाव)	(अह्नाय)	१०९	२१

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
अगमे	अंगमे	११०	[illegible]
(साथी)	[साथी]	११५	२
संकप	संकल्प	११७	१५
हृदया	हृदया	११९	११
अह्लादित	आह्लादित	१२०	२
व्याकवाणि	व्याकरणाणि	१२३	[illegible]
ब्रह्मात्वकत्व,	ब्रह्मात्मकत्व	१२३	२१
(न विह्वः)	(न विप्रः)	१२४	२५
विप्र,	विप्रः,	१२४	[illegible]
मलिनाथ	मल्लिनाथ	१२४	१९
वाणिको	वाणीको	१२५	१४
बिराड्हिरण्य	विराड्ढिरण्य	१२७	२५
ध्यनिभि	ध्वनिभि	१२८	१४
नुपर्यगे	नुपयोगे	१२८	२०
र्ध्वनिमिः	र्ध्वनिभिः	१२९	२५
यद्धाम	वद्धाम	१२९	२५
य द्व्याप्य	यद् व्याप्य	१२९	२६
(चौथा)	[चौथा]	१३४	१८
नामस्रु	नामसु	१३६	१५
महाँ	मेहाँ	१३६	३०
महेति	मेहेति	१३६	३१
इत्यदि	इत्यादि	१३९	२७
प्रयदव	प्रियदव	१४१	२५
तूअथा	अर्थात्	१४१	३१
श्लौ	श्लो	१४४	३०
बाणाभट्ट	बाणभट्ट	१४५	२२
भवते गण	भवतो गुण	१५१	२८
भवड्गुणा	भवद्गुणा	१५२	८
कज्ञलं	कज्जलं	१५२	१२
वरबै	वरबै	१५३	२

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
थै	पै	१५३	७
गुणः	गुणैः	१५४	८
(अधोरात्)	(अघोरात्)	१५७	१३
नाशिनी	काशिनी	१५७	१५
भाविदु	भाविहु	१६३	२
सतीर्थ	सुतीर्थ	१६३	२८
करणसम्पुटः	करसम्पुटः	१६५	२९
कण्ठस्थ	कण्ठस्थे	१६८	१६
साहायेन	साहाय्येन	१६८	१७
कंस्ठथ	कंठस्थ	१६९	२५

पुष्पदन्तो-दन्त ।

उद्यानों	उद्यानोंमें	१०	९
परुन्तु	परन्तु	१५	२७
कात्ययान	कात्यायन	१८	१०
कौदीमें	कौमुदीमें	१८	२७

भूमिका ।

गर्भमें रहै (जौ) कोय,	रहै गर्भमें (जो) कोय	८	१८
तहां जन्म नहिं होय,	तिहि कुल जन्म न होय	९	१९

शुद्धिसभा—विसर्जनम्

॥ श्रीः ॥

ॐ नमः श्रीशिवाय ।

श्रीपुष्पदन्ताचार्यविरचितं

शिव महिम्नस्तोत्रम् ।

संस्कृत व्याख्याद्वयोपेतम् भाषाटीकापद्यानुवादाभ्यां सम्वलितञ्च

महिम्नः पारं ते परम विदुषो यद्य सदृशी,
स्तुति र्ब्रह्मादीना मपि तदवसन्ना स्त्वयि गिरः ।
अथा वाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्,
ममा प्येष स्तोत्रे हर ! निरपवादः परिकरः ॥ १ ॥

मधुसूदनी टीका

विश्वेश्वरं गुरुं नत्वा महिम्नाख्यस्तुतेरयम् ।
पूर्वाचार्यकृतव्याख्यासंग्रहः क्रियते मया ॥ १ ॥

एवं किलोपाख्यायते—कश्चित्किल गन्धर्वराजः कस्यचिद्राज्ञः प्रतिदिनं प्रमदावनकुसुमानि हरन्नासीत्। तज्ज्ञानाय शिवनिर्माल्य-लङ्घनेन मत्पुष्पचौरस्यान्तर्धानादिका सर्वापि शक्तिर्विनङ्क्ष्यतीत्य-भिप्रायेण राज्ञा शिवनिर्माल्यं पथि निक्षिप्तम्। तदप्रतिसंधाय च गन्धर्वराजस्तत्र प्रविशन्नेव कुण्ठितशक्तिर्बभूव। ततश्च शिवनिर्मा-ल्योल्लङ्घनेनैव ममैतादृशं वैक्लव्यमिति प्रणिधानेन विदित्वा परमका-रुणिकं भगवन्तं सर्वकामदं तमेव तुष्टाव ।

ननु स्तुतिर्नाम गुणकथनं, तच्च गुणज्ञानाधीनम्, अज्ञातस्य तस्य कथनासंभवात् तथाच भगवतो गुणानामनन्तत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्कथं तत्कथनरूपा स्तुतिरनुरूपा भवेत्, अननुरूपकथनं चोपहासायैवेति या शङ्का तदपनोदव्याजेन स्वस्यानौद्धत्यं दर्शयन्नेव भगवन्तं स्तोतुमारभते—

महिम्नः पारमिति । हे हर, सर्वाणि दुःखानि हरतीति हरः । योग्यं संबोधनम् । सर्वदुःखहरत्वेनैव प्रसिद्धोऽसि, न मम दुःखहरणे पृथग्व्यापारं करिष्यसीत्यभिप्रायः । हे सर्वदुःखहर, ते तव महिम्नः परं पारमवधिमविदुषः एतावानेव महिमेतीयत्तयाऽजानतः । कर्तृत्वसंबन्धे षष्ठी । अजानत्कर्तृका स्तुतिर्यद्यसदृश्यननुरूपा । अयोग्येतियावत् । तत्तर्हि ब्रह्मादीनां सर्वज्ञानामपि गुणकथनरूपा गिरस्त्वयिविषयेऽवसन्नाः । अयोग्या एवेत्यर्थः । तैरपीयत्तयाऽज्ञानात् इयत्ताया असत्त्वेन तदज्ञाने सार्वज्ञ्यव्याघातोऽपि न । सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञत्वस्य । अन्यथा भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तथाच श्रीभागवते—'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि' इति । अथेति पक्षान्तरे । यद्येवं ब्रूषे तर्हि स्वमतिपरिणामावधि स्वस्य मतिपरिणामो बुद्धिविषयता स एवावधिर्यत्रेति क्रियाविशेषणम् । स्वबुद्ध्या यावद्विषयीकृतं तावद्गृणन् वाक्सृष्टिसाफल्याय कथयन्सर्वोऽपि स्तोताऽवाच्योऽनुपालम्भनीयः । 'सा वाग्यया तस्य गुणान्गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च । जिह्वाऽसती दादुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः' इति च श्री भागवतवचनात् । तर्हि 'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः' इति न्यायेन ममाप्येष परिकर आरम्भः स्तोत्रे स्तोत्रविषये निरपवादोऽखण्डनीयः । स्वबुद्ध्यनुसारेण योग्य इत्यर्थः । प्रथमार्धेन स्तुतिनिराकरणव्याजेन सर्वदुराधिगममहिमत्वरूपा महती स्तुतिः कृता, उत्तरार्धेन स्तुतिसमाधानव्याजेन सर्वा स्तुतिरनुरूपेति महत्कौशलम् ॥ अन्यच्च गन्धर्वराजस्य महाकुशलत्वादेकेनैव श्लोकेन यथाश्रुति वक्ररीत्या च हरिशंकरयोः स्तुतिस्तयोरभेदज्ञानायाभिप्रेता । तत्र हरपक्षे यथाश्रुति व्याख्यातं, हरिपक्षेऽपि तदेव योजनीयम् । संबोधनपदं तु अहरेति । हरतीति हरः संहर्ता तद्विरुद्धोऽहरः । पालयितेत्यर्थः । अथवाऽहः अहो परम परा मा

लक्ष्मीर्यस्येति तथा हे लक्ष्मीपते। लक्ष्मीपतित्वान्ममालक्ष्मीं स्वत एव नाशयिष्यसीति योग्यं संबोधनम्। यदि ते माहिम्नः त्वन्माहिमसंबन्धिनी त्वन्माहिमाविषया स्तुतिः। गिरो महिम्न इति योजनापेक्षया ते स्तुतिरित्येव समीचीनम्, तत्तर्हि; अवसन्नाऽल्पा असदृश्यननुरूपाऽस्तु, नत्वन्यदेवतानामनल्पाऽनुरूपापि। अत्र हेतुगर्भं विशेषणम्। तव कीदृशस्य। ब्रह्मादीनां स्तावकानां गिरः स्तुतिरूपायाः पारं विदुषः। स्तोतुः श्रमं स्तुतेर्गुणदोषौ च जानत इत्यर्थः। सर्वदेवस्तुत्यत्वेन निरतिशयसार्वज्ञ्येन च तवैव सर्वोत्कृष्टत्वादित्यभिप्रायः। स्तुतिफलं दर्शयन् स्वस्य विनयातिशयं दर्शयितुमाह। अथ स्वं त्वां अतिपरिणामावधि अतिक्रान्तो बुद्धिपरिपाकावधिः सीमा यत्र तादृशं यथा स्यात्तथा स्वशक्तिमतिक्रम्यापि गृणन्स्तुवन् सर्वोऽपि जनः अवाच्य आभिमुख्येन वाच्यः। संभाषणीयस्त्वयेत्यर्थः। यस्मादेवं सर्वथैवानुगृह्यते त्वया स्तोता अत एव ममापि स्तोत्रे स्तुतिकर्त्रे एष परिकरो नमस्कारादिप्रबन्धः। कीदृशः। अनिरपवादः न विद्यतेऽतिशयेनापवादो दूषणं यस्मात्स तथा। अहरिति वीप्सनीयम्। अहरहः सर्वदेत्यर्थः। यद्विषयकस्तुतिकर्तृत्वेनान्योऽपि सर्वदा नमस्यः किमु वक्तव्यं स सर्वदा सर्वेषां नमस्यतरो भवतीति भगवति स्त्यातिशयो व्यज्यते। एवं यस्यायोग्यापि स्तुतिः सान्निध्यफला तस्य योग्या स्तुतिः किं वा न फलिष्यतीति ध्वनितम्। हरपक्षेऽप्येवम्। तत्र परम श्रेष्ठेति संबोधनम्॥ १॥

॥ संस्कृत टीका ॥

जयतः पितरा ईशौ द्वैताद्वैतस्वरूपिणौ।
संसक्ता इव गीरर्था आप्तरङ्गावुभौ शिवौ॥ १॥

(हर!) हे दीनार्तिहारिन्! (ते) भवतः (महिम्नः) अष्टावैश्वर्यान्तर्गतसिद्धिविशेषस्य, महत्त्वस्येत्यर्थः। यथा "अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः" इति प्रक्षिप्तामरः। महतो भाव एव महिमेत्युच्यते-

महत्शब्दात् "पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा" ५।१।१२२ इत्यस्मात्सूत्रादिमनिज् प्रत्ययः। ततः "टेः" ६।४।१५५ इति टिलोपः। (परं) उत्कृष्टमन्यद्वा (पारं) नद्यादिलङ्घनाद्वन्तव्यतीरं, यथार्थसीमानमिति यावत्। (अविदुषः) अज्ञानतः। कस्यचित् पुरुषस्य कृता (स्तुतिः) माहात्म्यवर्णनं स्तुतिवाद इत्यर्थः (यदि) कदाचित् (असदृशी) अननुरूपा अयोग्या वा भवेत्तर्हि किं चित्रमिति योजनीयम्। यतः (ब्रह्मादीनामपि) ब्रह्मोपेन्द्रेन्द्रादिदेवानामपि, किमुतान्येषां (गिरः) वचनानि (त्वयि) भवतो विषये (अवसन्नाः) परिसमाप्ता, व्यर्था एव भवन्ति। यथोक्तं स्कन्दपुराणस्य माहेश्वरखण्डान्तगर्त-कौमारिकाखण्डस्य च त्रयस्त्रिंशाऽध्याये।

"न यस्यालमपि ब्रह्मा महिमानं विवर्णितुम्। २०/१"

ततः किमिति त्वयापि स्तुते रारम्भः क्रियते ? इति चेत्सर्वेषां साधिकारतां प्रतिपादय न्नाह। (अथ) अतः परं (सर्वः) समस्तोऽपि जनः (स्वमतिपरिणामावधि) निजमतिपरिपाकपर्य्यन्तं स्वबुद्धिविभवानुसार मित्यर्थः। क्रियाविशेषणमिदं (गृणन्) स्तुवन् कथयन् सन् (अवाच्यः) कदापि न निन्दनीयः अर्थात् निर्दोष एव भवति। तर्हि अस्मिन् (स्तोत्रे) भवदीयस्तुतिरूपकर्मणि (ममापि) पुष्पदन्ताभिधानस्य स्तोत्रनिर्मातुः श्रोतृपाठकादेरपीति लक्षणया (एष परिकरः) प्रगाढगात्रिकाबन्धः समारम्भ इति यावत् (निरपवादः) अपवादहीनो निर्दोष एवास्ति। पद्येनाऽमुना कविः स्तोत्रारम्भे ईश्वरमाहिमवर्णनप्रसङ्गेषु सर्वेषामप्ययोग्यतां निरूप्य स्वबुद्धिगोचरत्वावधि कथनमेव निर्विवादमित्यवगमयति। कारणञ्चास्याग्रिमश्लोक एव दर्शयतीति बोद्धव्यम्। एतस्मिन् धूर्जटिस्तोत्रे आदौ महिमशब्दप्रयोगात्तद्वर्णनाधिक्याच्चायं स्तवो "महिम्नस्तोत्र" नाम्ना व्यवह्रियते। यथा आदौ कर्पूरशब्दप्रयोगकारणादेव "कर्पूरस्तुति" रपि प्रसिद्धिङ्गतास्ति अस्मिन् महिम्नस्तोत्रे उनत्रिंशच्छ्लोकावधि "शिखरिणी" वृत्तमेव प्रधानं तल्लक्षणञ्चोक्तं वृत्तरत्नाकरे "रसै रुद्रै श्छिन्ना य-म-न-स-भ-लागः शिखरिणी"-ति॥ १॥

संस्कृत पद्याऽनुवादः

भवन्महिम्नोऽन्तमजानतस्स्या, त्त्वानुरूपा कथमीश ! ते स्तुतिः ।
यतो विरिञ्च्यादिकदैवतानां, गिरोऽवसन्ना विषये त्वदीये ॥
अथ स्वबुद्धे र्विभवानुसारं,वदन् न कश्चि त्किल दोषमर्हति
(परिनिन्दनीयः)
प्रारम्भ एषोऽस्तु ततोऽपवादे, हींनस्स्तुतौ मे हर ! सर्वथैव ॥ १ ॥

भाषा टीका

जाकी सत्ता लेस लहि, भृकुटी हिलतहि साथ ।
लखियत यह जग सत्य-सम प्रनवौं गिरिजानाथ ॥ १ ॥
अलख अनादि अनंत जो निरगुन सगुन विसेस ।
निराकार साकार सो, रहत निरंजन वेस ॥ २ ॥
जो अद्वैतहि द्वैत है, द्वैता-द्वैत विशिष्ट (निकाम) ।
रहत भुवन भरि व्यापि पुनि, सवते परे घनिष्ट (विराम) ॥
विश्वरूप जो विश्वपति, अनुछन विश्व-निवास ।
छिति जल पाबक पवन रवि, शशि आतमा अकास ॥ ४ ॥
लै व्रह्मा ते कीट लौं, जाको विम्ब (रूप) लखात ।
सब कुछ ह्वै सबमें रहत, पुनि सबते विलगात ॥ ५ ॥
जाको वर्णन सब करै, जो नहि वरनै जोग ।
जाहि वरनि जन धन्य बनि, मेटत निज भव रोग ॥ ६ ॥
जाको मंगल नाम है देत परम पद जोय ।
ताहि नरायन पति नमत, जो विधिहरि हर होय ॥ ७ ॥

(हर) हे दीनजनों के दुःख हरन करने बाले ! (ते) आपकी (महिम्नः) महिमाकी (परं पारं) यथार्थ सीमाके (अविदुषः) अन जानते जनकी की हुई (स्तुतिः) बड़ाई (यदि) जौ, कदाचित् (असदृशी) अयोग्य होवेतो क्या आश्चर्य है ? क्यों कि (ब्रह्मादी- नामपि) ब्रह्मा-इत्यादि, देवताओं की भी (गिरः) उक्तियां (त्व- यि) आपके विषयमें (अवसन्नाः) व्यर्थही होती हैं, अर्थात् रुक जाती हैं । (अथ) इसके अनन्तर (सर्वः) सबी कोई (स्वमति-

परिणामवधि गृणन्) अपनी बुद्धिकी पकाई भर कहता हुआ (अवाच्यः) निंदाके योग्य नहीं होता। अत एव (ममापि) मेराभी (स्तोत्रे) आपके स्तुति गान में (परिकरः) उद्यत होना अथवा कमर बांधना (निरपवादः) दोष लगानेके योग्य नहीं हो सकता। तात्पर्य्य यह है कि, किसी के गुण गान करनेका नाम स्तुति है। अतः गुण तभी गाया जा सकता है। जब कि, पूर्ण रीति से जान लिया जावे। फिर परमेश्वरके गुणोंका अन्त नहीं है। इस कारण से उन के गुणों को कह डालना मनुष्य की शक्ति के बाहर है ऐसी दशामें स्तुतिकरना असंभव है इसी शंका को दूर करके इस श्लोक में यह भाव दर्शाया है कि, जो आपकी महिमा का पार नहीं पा सका है उस की कही हुई आपकी स्तुति अयोग्य होवे तव तो कुछ आश्चर्यकी वात नहीं है, क्यों कि और की कौन बात है ब्रह्मा-इत्यादि देवताओंकी कही स्तुतियां भी आपके विषयमें यथार्थ नहीं हो सकने से रुकी पडी रहगई-अब यह शंका होती है कि, यदि समस्त जगत्के सृष्टिकर्ता ब्रह्मादिकभी जिस कार्य को नहीं कर सके तो तुम क्यों ऐसे विषयमें उद्यत हुए हो! तो उसका उत्तर यह है कि, अपनी बुद्धि के दौड़ भर सभी लोग कह सकते हैं। अत एव इस स्तुति गान में मेराभी लग जाना दूषित नहीं है। जैसा कि, गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने मानस रामायण में कहा है—

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥ इति॥१॥'

भाषापद्यानुवादः

महिमा बिनु जाने भले, किछु बिध भाषि न जाय।
जहँ ब्रह्मादिक देवकी, बानी व्यर्थ बनाय ॥
निजमति वैभव भरि कहत, लहत दोष नहिं कोय।
याते बिनती मोरिहू, निरपवाद प्रभु! होय ॥ १ ॥

भाषाबिम्बम्

बड़ाई आपै की सकत नहिं जानी किमि कहै,
अहै ब्रह्माहू की बचन-रचना व्यर्थ जहँ पै ।
अपानी बुद्धी कै विभव भरि भाषै चहि सबै,
हमारी भी बिन्ती हर ! निरपवादै बनि रहै ॥ १ ॥

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकित मभिधत्ते श्रुति रपि ॥
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः ॥ २ ॥

मधुसूदनी टीका

पुनरप्यस्तुत्यत्वेनैव भगवन्तं स्तौति पूर्वोक्तं स्वस्य ब्रह्मादिसाम्यमुपपादयन्—

अतीतेति । पूर्वोक्तं संबोधनमावर्तनीयम् । तव महिमा सगुणो निर्गुणश्च वाङ्मनसयोः पन्थानं विषयत्वमतीतोऽतिक्रान्तः । चश-ब्दोऽवधारणे । अतीत एवेत्यर्थः । अनन्तत्वान्निर्धर्मकत्वाच्च । तथाच श्रुतिः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति । वागविषयत्वे तत्र श्रुतेः प्रामाण्यं न स्यादित्याशङ्क्याह । यं श्रुतिरप्यपौरुषेय्यपि वेदवाणी चकितं भीतं यथा स्यात्तथा अभिधत्ते तात्पर्येण प्रतिपादयति । सगुणपक्षे किंचिदप्ययुक्तं मा भूदिति निर्गुणपक्षे तु स्वप्रकाशस्यान्याधीनप्रकाशता मा भूदिति भयम् । केन प्रकारेण । अतद्व्यावृत्त्या सगुणपक्षे न तद्व्यावृत्तिरतद्व्यावृत्तिस्तया । अभेदेनेत्यर्थः । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिना सर्वाभेदेनैव भगवन्तं प्रतिपादयति न त्वेकैकशो महिमानं वदतीत्यर्थः । निर्गुणपक्षे तु न तत् अतत् अविद्यातत्कार्यात्मकमुपाधिद्वयमिति यावत् । तद्व्या-

वृत्त्या तत्परित्यागेन जहद(१)जहल्लक्षणयेत्यर्थः । मायाविद्योपहित चैतन्यशक्तं तत्पदं तत्कार्यबुद्ध्याद्युपहितचैतन्यशक्तं त्वंपदमुपाधिभागत्यागेनानुपहितचैतन्यस्वरूपं स्वप्रकाशमपि तदाकारवृत्तिमात्रजननेनाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या बोधयतीवेति न तावता वाग्विषयत्वं मुख्यं तस्येत्यर्थः । अत एव स तादृशः सगुणो निर्गुणश्च महिमा कस्य स्तोतव्यः । कर्तरि षष्ठी । न केनापि स्तोतुं शक्य इत्यर्थः । सगुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह । कतिविधगुणः कतिविधा अनेकप्रकारा गुणा यत्र स तथा । अनन्तत्वादेव न स्तुत्यर्ह इत्यर्थः । निर्गुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह । कस्य विषय इति । न कस्यापि विषयः निर्धर्मकत्वात् । अत एवाविषयत्वान्न स्तुत्यर्ह इत्यर्थः । सगुणो ज्ञेयत्वेऽप्यनन्तत्वात् निर्गुणस्त्वेकरूपोऽपि ज्ञेयत्वाभावान्न स्तुत्यश्चेत्तर्हि स्वमतिपरिणामावधि गृणन्निति पूर्वोक्तं विरुद्ध्येतेत्यत आह-पदे त्विति । अर्वाचीने नवीने भक्तानुग्रहार्थं लीलया गृहीतं वृषभपिनाकपार्वत्यादिविशिष्टे रूपे कस्य विदुषो मनो न पतति नाविशति, कस्य वचो नाविशति । अपि तु सर्वस्यापि मनो वचश्च विशतीत्यर्थः । तत्र हिरण्यगर्भस्यास्मदादेश्च सममेव स्तुतिकर्तृत्वमिति न पूर्वापरविरोधः ॥ हरिपक्षेऽप्येवम् । अथवा यं अतद्व्यावृत्त्या कार्यप्रपञ्चभेदाच्चकितं भीतं माद्भिन्नत्वेन कार्यप्रपञ्चं मा पश्यत्विति शङ्कमानं श्रुतिरभिधत्ते इति पूर्ववत् । अर्वाचीने पदे तु कमलकम्बुकौमोदकीरथाङ्गकमलालयाकौस्तुभाद्युपलक्षिते नवजलधरश्यामधामानि श्रीविग्रहे वैकुण्ठवर्तिनि वेणुवादनादिविविधविहारपरायणे गोपकिशोरे वा वृन्दावनवर्तिनि कस्य मनो नापतति, कस्य वचश्च नापतति । अपगता ततिर्विस्तारो यस्मात्तदपतति । संकुचितमित्यर्थः । तव श्रीविग्रहानुचिन्तने तद्गुणानुकथने च विषयान्तरपरित्यागेन विलीयमानावस्थं मनो वचश्चैकमात्रविषयतया संकुचितं भवति तव श्रीविग्रहे एवासक्तं भवतीति भावः ॥ २ ॥

---

(१) शक्त्युपस्थितार्थे किंचिदंशं परित्यज्य अवशिष्टार्थे लक्षणा जहदजहल्लक्षणा—यथा तत्त्वमसीत्यादौ तत्त्वमिति पदोपस्थितयोः सर्वज्ञत्वकिंचिज्ज्ञत्वांशयोः परित्यागपूर्वकं केवलचैतन्याभेदप्रतिपादनमित्याद्यूह्यम्.

संस्कृत टीका

हे भगवन् ! (तव च) अतः परं भवतो (महिमा) ऐश्वर्यं (वाङ्मनसयोः) वचसो मनसश्च द्वयोरपि । "अचतुर–" ५ । ४ । ७७–इत्यादिना निपातनात्साधुः । (पन्थानं) मार्गम् (अतीतः) अतिक्रान्तः, लङ्घितवानेवेत्यर्थः । यतो वाङ्मनसाभ्यामेव सर्वार्थ-परिज्ञानं भवितुं शक्यते अत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि अविषय एवेति सिद्धम् । (यं) त्वन्महिमानं (श्रुतिरपि) वेदपूरुषोऽपि (अतद्व्यावृत्त्या) न तस्य व्यावृत्तिः अतद्व्यावृत्तिस्तया, "नेति नेती" त्यादिवाक्यपरम्पराद्वारा, अथवा "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह–" त्यादिज्ञापनरीत्या (चकितं) यथा स्यात्तथा क्रिया-विशेषणमिदं (अभिधत्ते) कथयति, सूचयतीत्यर्थः। अर्थात् स्वरू-पलक्षणाभावात्तटस्थलक्षणेनैव वक्तुमुत्सहते यथा–"नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु–" इत्यादिकथनद्वारैव स्वाभिप्रायं व्यञ्ज-यतीति दिक् । (स) महिमा (कस्य) जनस्य (स्तोतव्यः) स्तोतुं योग्यस्स्यादपि तु न कस्यापीति व्यङ्ग्यध्वनिः । एवं च (कति-विधगुणः) तस्य कियन्तो गुणाः सन्तीति याथार्थ्येन ज्ञातुं न शक्यते । तथा च (कस्य विषयः) अपि तु न कस्यापि गोचर इत्यर्थः (अर्वाचीने) सृष्टि–स्थिति–प्रलयादिमुख्यतया आत्मन्यनुग्राह्यके इदानीन्तने (पदे) स्थाने (कस्य मनोवचः, च न पतति) नैव प्रसरति, अपितु सर्वेषामपि मनो वाक् प्रसरत्येव । अत्र निष्कलरूपे ईश्वरे स्तुतेरनधिकारित्वं प्रतिपाद्य सकलरूपे सावकाशत्वमस्तीति स्फुटं दृढीकृतमिति ॥ २ ॥

(तथा चोक्तं स्कन्दपुराणस्थमाहेश्वरखण्डीयकौमारिकाखण्ड-स्य ३३ अ० "श्रुतिश्च भीता यं वक्ति किं तस्मात्परमं भवेत् " ॥२८॥

संस्कृतपद्यानुवादः

न गोचरत्वं महिमा प्रयाति, तवेश ! वाणी–मनसोः कदाचित् ।
न वेद वेदोऽपि ततोऽभिधत्ते, "नेती" ति वाक्याच्चकितं सदैव(यमेव)
स्तुत्यः कथं स्यान्महिमा त्वदीयः ? कियद्गुणो वा विषयश्च कस्य ?
आत्मन्यनुग्राह्य पदे न कस्य, मनो वचो वा प्रसरत्यवश्यम् ॥ २ ॥

भाषाटीका

स्तुतिकर्त्ता अपने स्तुत्य देव से यह स्तुति कह रहा है अत एव पूर्वोक्त संबोधन का यहाँ पर अध्याहार कर लेना चाहिये। अथवा—

हे भगवन्! (तव च महिमा) और आप की महिमा (वाङ्मनसयोः पन्थानं अतीतः) वचन और मन-दोनो ही के मार्ग को लांघगई है। अर्थात् वाणी और मन भी आप की महिमा तक कदापि नहीं पहुँच सकते। अत एव (श्रुतिरपि) वेद भी (यं) जिसे (अतद्व्यावृत्त्या) अभेद ही से, अर्थात् यह नहीं यह, अथवा इतना ही भर नहीं। इत्यादि वाक्यों ही से (चकितं अभिधत्ते) चकपकाया हुआ सा कहता है। अथवा भयभीत होकर कह रहा है। (स कस्य स्तोतव्यः) भला ऐसी आपकी महिमा को कौन गा सकता है? क्योंकि (कतिविधगुणः) उसमें कितने प्रकार के गुण हैं? (कस्य विषयः) किसका विषय हो सकता है? अर्थात् सभी किसी की शक्ति के बाहर है। फिर भी (अर्वाचीने) नवीन अर्थात् भक्तों के अनुग्रहार्थ लीलामय शरीर धारी (पदे) स्थान में (कस्य किस का (मनो वचः न पतति) मन और वचन नहीं पहुचँता है? तात्पर्य यह कि-आप के निर्गुण रूप की महिमा तो वचन और मन दोनो ही के परे हैं, क्योकि वेद भी—

"नेति नेति कहि जासुगुन करहि निरन्तर गान।" तु० रा०

तब भला उसे कौन गा सकता है? पर हां आप के सगुण रूप में आप वृषभवाहन हैं, आप पार्वती के पति हैं, आप पिनाक धारी हैं। इत्यादि प्रकार की कुछ बातें कहने के लिये मन दौडने लगता है। अर्थात् सगुण रूप ही की कुछ थोडी सी स्तुति किसी प्रकार से हो सकती है। इससे स्तुति करने की सार्थकता प्रकट होती है॥ २॥

भाषापद्यानुवादः

बानी मनके पथ परे, महिमा तुमरी नाथ !
नेति नेति कहि वेद नित, गावत विस्मय साथ॥
हैं कतेक गुन विषय किमि, कौन सकै तिहि गाय।
काकी बानी मन नहीं, नये थान पै जाय॥ २॥

भाषाछन्दम्

बड़ाई तोरी है वचन मनहू के पथ परे,
डराते वेदौ भी चकित बनि भाषै विनु पते ।
भला कैसे गावे कतिक गुन काको विषय है,
अनोखे थाने पै गिरत मन बानी नहिं कबै ॥ २ ॥

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुर-गुरो र्विस्मयपदम् ।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामी त्यर्थे ऽस्मि न्पुरमथन ! बुद्धि र्व्यवसिता ॥३॥

मधुसूदनी टीका

नन्वेवं स्तुत्यत्वेऽपि हरिहरयोः सर्वज्ञयोरनभिनवया स्तुत्या न मनोऽनुरञ्जनं तद्विना न तत्प्रसादस्तं विना फलमिति पुनरपि स्तुतेर्वैयर्थ्ये प्राप्ते सार्थक्यं दर्शयन्स्तौति—

मध्विति। हे ब्रह्मन् विभो, सुरगुरोर्ब्रह्मणोऽपि वाग्वाणी तव किं विस्मयपदं चमत्कारकारणं किम्। किंशब्द आक्षेपे। नेत्यर्थः। तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह। तव कीदृशस्य। वाचो वेदलक्षणा निर्मितवतो निःश्वासवदनायासेनाविर्भावितवतः। कीदृशीः। मधुवत्स्फीताः माधुर्यादिशब्दगुणालंकारविशिष्टत्वेन मधुराः। तथा परमममृतं निरतिशयामृतवदत्यास्वाद्याम्। एतेनार्थगतमाधुर्यमुक्तम्। परमेश्वरवाचां शब्दार्थगतयोर्निरतिशयमाधुर्ययोरपि मिथस्तारतम्यं मध्वमृतशब्दाभ्यां द्योत्यते। अयं च वाचामुत्कर्षो महान् यत्र शब्दगुणालंकारातिशयं विनार्थगुणालंकारातिशय इति यत्र हिरण्यगर्भस्य वाण्यपि न चमत्कारकारणं तत्र का वार्ताऽस्मदादिवाण्या इत्यर्थः। तर्हि किं स्तुत्येत्यत आह-मम त्वित्यादि। हे पुरमथन त्रिपुरान्तक, भवतो गुणकथनपुण्येन एतां स्वां वाणीं पुनामि निर्मलीकरोमीत्याभिप्रायेणैतस्मिन्नर्थे स्तुतिरूपे मम बुद्धिर्व्यवसितोद्यता नतु स्तुतिकौशलेन त्वां रञ्जयामीत्याभिप्रायेणेत्यर्थः। वाङ्नैर्मल्येन मनोनैर्मल्यं नान्त-

दीयकामिति स्तुतेः सार्थक्यमुक्तम् ॥ हरिपक्षेऽप्येवम् । मथ्यतेऽस्मिन्दध्यादीति मथनं गोकुलम्, अथवा मथ्यन्ते आपोऽमृतार्थमिति मथनः क्षीरोदः पुरं मन्दिरं गोकुलं क्षीरोदो वा यस्येति पुरमथनसंबोधनार्थः । सर्वमन्यत्समानम् । अथवा हे ब्रह्मन्, वाचः सर्वस्या अपि परममृतं निरातिशयसारं निश्चयेन मितवतः सम्यगनुभूतवतः सुरगुरोर्हिरण्यगर्भादिसर्वदेवतोपाध्यायस्य तव मधुस्फीता मधुरिम्णा व्याप्ता अन्तरा कटुत्वलेशेनापि रहिता वागपि वाग्देवता सरस्वत्यपि किं विस्मयपदम् । नेत्यर्थः । तस्या महाचश्च महदन्तरमातिप्रसिद्धमेव । यद्यप्येवं तथापि त्वादिच्छयैव ममेयं प्रवृत्तिरित्याह–ममत्वेतामिति । निजगुणकथनपुण्येन ममत्वेतां ममत्वे वर्तमानां संसारसंसर्गकलुषितां वाणीं वाचं एतस्य स्तुतिकर्तुरिति शेषः । पुनामि निष्कलुषां करोमीत्येतस्मिन्नर्थे हे पुरमथन, भवतो बुद्धिर्व्यवासिता यतोऽतोनायत्तैव मम प्रवृत्तिरित्यर्थः । श्रुतिश्च भवति 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कारयति यमधो निनीषते' इति । स्मृतिश्च 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च' इति । तेन परमकारुणिकस्त्वं शरणागतवाणीपावनपुण्यहेतुस्तुतितत्परं लोकं कर्तुं स्वयमेव प्रयतमानो यया कयापि स्तुत्या प्रसीदसीत्यर्थः ॥३॥

संस्कृत टीका

(ब्रह्मन्!) हे ब्रह्मस्वरूप! (मधुस्फीताः) मधुवन् मधुराः कोमलाः माधुर्य्यगुणालङ्कृताः (वाचः) वेदादिवचनानि (परममृतं) उत्कृष्टसुधासदृशाः । क्रियाविशेषणमेव (निर्मितवतः) कृतवतः (तव) भवतो विषये (सुरगुरोरपि) वाचस्पतेरपि वा किमुतान्येषां (वाक्) वाणी (किं विस्मयपदं ?) कथमाश्चर्यस्थानं भवितुमर्हति ? न कदापीत्यभिप्रायः । यद्येवमेव तर्हि त्वं कथं स्तवने प्रवर्तसे इत्याशङ्क्याह–(पुरमथन!) हे त्रिपुरासुरान्तक! अहं (तु)-इति हेत्ववधारणे (एतां) वक्ष्यमाणामात्मीयां (वाणीं) गिरं (भवतः) तवैव (गुणकथनपुण्येन) गुणकीर्तनपुण्यलाभार्थमेव । करणे तृतीया । (पुनामि) पवित्री

करोमि (इति) हेतोः (अस्मिन्) स्तुतिलक्षणे (अर्थे) प्रयोजने (मम बुद्धिः व्यवसिता) कृतोद्योगा लग्नेत्यर्थः। अत्र ब्रह्मण एवाशेषवाग्जालकर्तृत्वं प्रदर्श्यात्मनश्चौद्धत्यं दूरीकृतं। "ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती" त्यमरोक्तरीत्यनुसारेणात्र ब्रह्मन्निति सम्बुद्धिपदञ्च वाक्कर्तृत्वमेव सूचयति। तथा च "शिवपुराण" स्थवायुसंहितायाः पूर्वभागे अ० २३-उक्तं—

त्वं हि वागमृतं साक्षा, दहमर्थामृतं परम्।
द्वयमप्यमृतं कस्मा, द्वियुक्तमुपपद्यते ॥ १६ ॥

तथा चान्यदपि तत्रैवोत्तरभागे यथा—

शब्दजालमशेषन्तु, धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थस्य रूपमखिलं, धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥

इत्यादिवचनाच्छिवयोरेव वागर्थरूपत्वं प्रतिपादितमित्यवधेयम्। पद्योत्तरार्द्धभावश्च यथा "नैषधचरिताख्ये" महाकाव्ये—

"पवित्र मत्रातनुते जगद्युगे, स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथम्न सा मद्गिरमाविलामपि, स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥"
स १ श्लो०

संस्कृत पद्यानुवादः

परमामृतरूपिणीं गिरं मधुरां निर्म्मितवान्भवान् स्वयम्।
अत एव बृहस्पते रपि, वचनं विस्मयतां हि गच्छति॥
भवतो गुणगानपुण्यतो, निजवाचं भगवन्! पुनाम्यहम्।
इति कारणतो मया कृता, स्वमति स्त्वत्स्तुतिकर्मधर्म्मिणी॥ ३॥

भाषा टीका

(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मस्वरूप! (मधुस्फीताः) मधुसेभी मीठी अर्थात् बहुतही मधुर (परमं अमृतं) सर्वोत्तम अमृतके समान (वाचः) वेदादिक वचनों के (निर्मितवतः) रचना करनेवाले (तव)

आपके विषयमें (सुरगुरोः अपि) देवतों के गुरु बृहस्पति की भी (वाक्) वाणी (किं विस्मयपदं) क्या कुछ आश्चर्यकी स्थान हो सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं । (हेपुरमथन !) हेत्रिपुरासुरान्तक ! मैं (तु) तो (एतां वाणीं) इस अपनी वाणीको (भवतः) आपके (गुणकथनपुण्येन) । गुणगान रूपी पुण्यसे (पुनामि) पवित्र किया चाहता हूं (इति) इसलिये (अस्मिन् अर्थे) इस काममें (मम बुद्धिः व्यवसिता) मेरी बुद्धि लगगई । भाव यह कि-बोलने की प्रक्रिया वेदादिक सुनाकर आपहीने निकाली है, तब आपके विषयमें बृहस्पति का भी कहना कुछ आश्चर्यजनक नहीं होसकता, हम लोगोंकी क्या बात है ? इस पर यह शंका होती है कि जिस विषयमें साक्षात् बृहस्पतिको कुछ कहनेका अवसर नहीं मिलता उस विषयमें तुम क्यों कहनेको उद्यत हुए हो ? उसपर कहते हैं कि-मैं तो केवल आपके गुणानुवादके पुण्यसे अपनी इस वाणीको पवित्र कर रहा हूँ-बस इसीलिये मेरी बुद्धि इस विषय में लगी है । यथा—“ निज गिरा पावन करन कारन राम जस तुलसी कह्यो” (तु० रा०) ॥ ३ ॥

भाषापद्यानुवादः

मधुसी मधुरी तुम करी, बानी अमृत समान ।
याते अतिविस्मित बनी, सुरगुरु गिरा सकान ॥
तवगुन गावन पुन्यते, निर्मल करिवे हेत ।
मो (मम) वानीको पुरमथन ! बुद्धि सहारा देत ॥ ३ ॥

भाषाबिम्बम्

बड़ी मीठी बोली अमृत-रस घोली तुम रची ।
भई शंभो ! यामें सुरु-गुरु-गिरा विस्मय खची ॥
अपानी बानीको करहुं शुचि गाके तुव गुनै ;
यही हेतू मोरी मति गिरिश ! यामै लगि सनै ॥ ३ ॥

तवैश्वर्यं यत्त ज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ॥
अभव्याना मस्मि न्वरद रमणीया मरमणीम्
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः ॥ ४ ॥

मधुसूदनी टीका

एवं हरिहरयोः स्तुत्यत्वं सफलस्तुतिकत्वं च निरूप्य ये केचित्पापीयांसस्तस्य सद्भावेऽपि विवदन्ते तान्निराकुर्बन्स्तौति—

तवेति । हे वरद ईप्सितप्रद, यत्तव ऐश्वर्यं तद्विहन्तुं निराकर्तुं एके जडधियः केचिन्मन्दबुद्धयः व्याक्रोशीं विदधते। साक्षेपमुच्चैर्भाषणमाक्रोशस्तस्य व्यतिहारो व्याक्रोशी । अन्येन कर्तुमारब्धमन्यः करोति अन्येन चान्य इति कर्मव्यतिहारः । व्याङ्पूर्वात्क्रोशेः 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' इति पाणिनिस्मरणात् । ततः स्वार्थे अञ् णचः स्त्रियामञ्' इति सूत्रात् । ततः स्त्रियां ङीप् । तां व्याक्रोशमिहमहमिकया कुर्वते यत्सर्वप्रमाणप्रमितं तदपि जिघांसन्तीति यत्तद्भ्यां मन्दबुद्धित्वं द्योतितम् । अत एव कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विदधातेरात्मनेपदम् । नहि तद्व्याक्रोशीविधानात्तवैश्वर्यव्याघातः किंतु तेषामेवाधः पात इत्यर्थः । कीदृशं तवैश्वर्यम् । जगदुदयरक्षाप्रलयकृत् जगतं आकाशादिप्रपञ्चजातस्योदयं सृष्टिं, रक्षां स्थितिं, प्रलयं संहारं च करोतीति तथा । अनेनानुमानमुक्तम् । तच्च 'अजन्मानो लोकाः' इत्यत्र व्यक्तं वक्ष्यते । तथा त्रयीवस्तु त्रय्याः त्रयाणां वेदानां तात्पर्येण प्रतिपाद्यं वस्तु 'सर्वे वेदा यत्पदमा[illegible]न्ति' इति श्रुतेः । अनेनागमप्रमाणमुक्तम् । तथा गुणैः सत्वरजस्तमोभिः ली (लयातै) लोपात्तैर्भिन्नासु पृथक्कृतासु । नतु वस्तुगत्या भेद इत्यर्थः । तिसृषु तनुषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराख्यासु मूर्तिषु व्यस्तं विविच्य न्यस्तम् । प्रकटीकृतमिति यावत् । उपलक्षणं चैतत्सर्वेषामवताराणाम् । एतेन प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम् तेन सर्वप्रमाणप्रमितमित्यर्थः । कीदृशीं व्याक्रोशीम् । अस्मिन्नभव्यानां अस्मिंस्त्रोलोक्येऽपि नास्ति भव्यं भद्रं कल्याणं ये-

षां तेऽभव्यास्तेषां रमणीयां मनोहरां वस्तुतस्त्वरमणीममनोहराम् । अमनोहरेऽपि मनोहरबुद्धिभ्रान्तिरभाग्यातिशयात्तेषामित्यर्थः ॥ हरिपक्षेप्येवम् । अथवा अस्मिंस्तवैश्वर्ये अभव्यानां मध्ये जडधियो जडमतेरत्यन्तमपकृष्टस्येत्यर्थः । तस्य वस्तुतोऽरमणीं व्याक्रोशीं विहन्तुं एके मुख्या रमणीयां व्याक्रोशीं विदधत इत्यर्थः । जडधिय इत्येकवचनेन पूर्वपक्षिणस्तुच्छत्वम्, एक इति बहुवचनेन सिद्धान्तिनामतिमहत्वं सूचितम् ॥ ४ ॥

संस्कृत टीका

(वरद !) हेवरप्रद ! भगवन् ! (इह) संसारे (एके) केचन (जडधियः) मन्दमतयः, पापनिष्ठा इत्यर्थः (तिसृषु) त्रिसंख्यकासु (गुणाभिन्नासु) गुणाः सत्वरजस्तमांसि तै भिन्नाः पृथग्भूताः तासु । (तनुषु) शरीरेषु (व्यस्तं) आरोपितं, विस्तारितं वा (जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्) जगतां भुवनानां उदयः सृष्टिः, रक्षा परिपालनं, प्रलयो विनाशश्च करोतीति तथा (त्रयीवस्तु) ऋग्यजुस्सामाख्यवेदत्रयान्तर्गतं (यत्) प्रसिद्धं (तव) भगवतः (ऐश्वर्यं) महिमा (तत् निहन्तुं) विनाशयितुं (अस्मिन्) सर्वज्ञत्वादिगुणगणालङ्कृते तवैश्वर्ये शुद्धबुद्धीनां विदुषां (अरमणीं) मनोरमता रहितां तथा च (अभव्यनां) नीचमतीनां, पापिष्ठानां पा (रमणीं) मनोहारिणीं (व्याक्रोशीं) सापवादनिन्दां, अत्र व्याङ्पूर्वात्क्रोशेः "कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्"—३ । ३ । ४३— इत्यतः णच् प्रत्यये कृते—"णचः स्त्रिया मञ्—५ । ४ । १४ ततश्च स्त्रियां ङीप् । (विदधते) कुर्वन्तीति । अत्र पूर्वोक्त पद्य एवात्मन स्स्तुतः सावकाशत्वं प्रतिपाद्य इदानी मीश्वरस्य सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वादि विषये विप्रतिपद्यमानाना मपि केषाञ्चि न्मतं निराकृत मिति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

✥ संस्कृतपद्यानुवादः ✥

आरोपितं त्रिसृषु ते तनुषु प्रभुत्वं,
भिन्नासु शङ्कर ! गुणै रनघै महार्घैः ।
उत्पत्तिरक्षणलयादिकरं भवस्य,
ब्रह्माच्युतेश्वरसरूपधरं परं यत् ॥
हन्तुं तदेव वरदायक ! निन्दनीयां,
निन्दा मभव्यजनमानसराजहंसीम् ।
लोके महाजडधियो बकवृत्तयो वा,
शम्भो ! कचि द्विदधते दधते न बुद्धिम् ॥ ४ ॥

✥ भाषा टीका ✥

(वरद !) हे वरदायक ! (इह) यहां, संसार में (एके) कोई कोई (जडधियः) जडबुद्धि लोग (यत् तव ऐश्वर्य्यं) जो आप की ईश्वरता अथवा महिमा है (तत्) उसे [विहन्तुं] खंडन करने को किंवा मिटा देने के लिये (व्याक्रोशीं) सापवाद निन्दा (विदधते) करते हैं। आपका ऐश्वर्य्य कैसा है। कि (जगदुदय-रक्षाप्रलयकृत्) जगत की सृष्टि पालन और संहार का करने वाला है, फिर (त्रयीवस्तु) ऋक् यजुर् और साम तीनो ही वेदों का प्रति पादित वस्तु है, और फिर (तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु व्यस्तं) तीनो ही सत्व-रज-तम गुणों से पृथक् हुए शरीरों में फैला हुआ अर्थात् गुणों के अनुसार ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपों में प्रकट हुआ है। अब निन्दा का विशेषण देते हैं कि (अस्मिन्) इस समस्त गुणों से परिपूर्ण आप के ऐश्वर्य्य में समझ रखने वालोंके लिए (अरमणीं) मनोहारिणी नहीं है, पर (अभव्यानां) नीच बुद्धि वाले अथवा पापनिष्ठ लोगों के लिए (रमणीयां) बडी प्यारी है। भावार्थ यह कि—संसार में सभी प्रकार के लोग होते ही हैं–उही· में कोई कोई मन्दमति जन, संसारकी उत्पत्ति इत्यादिके करनेवाले तीनों वेदों में प्रतिपादित और तीनों गुणों से तीन रूप धारण करनेवाले आपके उस सर्व प्रसिद्ध ऐश्वर्य्य (ईश्वरता) ही को

मिटा देनेके लिए समझदारों के आगे परमतुच्छ पर नासमझों के लिये बडी बांकी आपकी निन्दा करने लगते हैं। इस श्लोक से संसार में भले और अनभले दोनों का मिला रहना सिद्ध है जैसे कि—

"भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।
गनि गुन दोष वेद बिलगाये॥
कहहिं वेद इतिहास पुराना।

बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना" ॥ (तु० रा०) ॥

इससे इस ग्रंथ के बनने के समय अनीश्वरवादी नास्तिकों का वर्तमान रहना भी सूचित होता है। कैसी निन्दा करते हैं-उन बातों को आगे वाले श्लोक में खोलदिया है ॥ ४ ॥

भाषापद्यानुवादः

जगत सृष्टि रक्षा प्रलय, महिमा करति तुह्मारि।
वेद कहत त्रय गुन धरे, बिधि हरि हर तनु धारि॥
वरद ! नीच मनभावनी, ताहि मिटावन हेत।
अनुचित (कुत्सित) निन्दा करहि जग, जडमति परम अचेत॥४॥

भाषाबिम्बम्

तिहारो ऐश्वर्य्यै जग स्रजन रक्षा लय करै,
पृथक् ह्वैके सोई त्रिगुनमय तीनो तनु धरै।
यही के मेटै को जगति बहुतेरी अनभली,
बडी भारी निन्दा करत जडबुद्धी जन छली॥ ४॥

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च ।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्य नवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चि न्मुखरयाति मोहाय जगतः॥ ५ ॥

मधुसूदनी टीका

ये त्वात्मप्रत्यक्षमपह्नुवते त्रयीं चान्यथा वर्णयन्ति, तेऽनुमाने नैव निराकार्याः। तच्चानुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदिति जगदुदयरक्षाप्रलयकृदित्यनेन सूचितम्। तत्र पूर्वश्लोकोक्तव्याक्रोशीवीजप्रतिकूलतर्कमुद्भावयन्तः पूर्वपक्षिणो निराकुर्वन्स्तौति अथवा कीदृशीं व्याक्रोशीं विदधत इत्याकाङ्क्षायां तां वदन्स्तौति—

* किमिति * हे वरदेति पूर्वश्लोकात्संबोधनानुषङ्गः। त्वयि विषये कुतर्कस्तर्काभासः कांश्चिद्धतधियः कानपि दुष्टबुद्धीन् जगतो विश्वस्यापि मोहायाऽन्यथाप्रतिपत्तये मुखरयति वाचालान्करोति। कीदृशे त्वयि। अतर्क्यं तर्कागोचरमैश्वर्यं यस्य तस्मिन्सर्वतर्कागोचरे त्वयि यः कश्चित्तर्कः स्वातन्त्र्येणोपन्यस्यते स सर्वोऽप्याभास इत्यर्थः। प्रमाणानां स्वगोचरशून्यत्वात्स्वागोचरे प्रामाण्याभावो युक्त एवेति भावः। कुतर्कमेवाह—किमीह इत्यादिना। स धाता परमेश्वरस्त्रिभुवनं सृजतीति सिद्धान्तमनूद्य तत्र दूषणमाह। खलु किंतु किमीहः का ईहा चेष्टा यस्येति। तथा कः कायः शरीरं कर्तृ रूपं यस्येति किंकायः। क उपायः सहकारिकारणमस्येति किमुपायः। क आधारोऽधिकरणमस्येति किमाधारः। किमुपादानं समवायिकारणं भुवनाकारेण निष्पाद्यमस्येति किमुपादानः। सर्वत्र किंशब्द आक्षेपे। इतिशब्दः प्रकारार्थः। चशब्दः शङ्कान्तरसमुच्चयार्थः। कुलालो हि घटं कुर्वन्स्वशरीरेण व्याप्रियमाणेन चक्रभ्रमणादिचेष्टया सलिलसूत्राद्युपायेन चक्रादावाधारे मृदमुपादानभूतां घटाकारां करोति, एवं जगत्कर्तापि वाच्यः। तथाच कुलालादिवदनीश्वर एवेत्यभिप्रायः। घटादिदृष्टान्तेन खलु क्षित्यादेः सकर्तृकत्वं साध्यते।

तथाच घटादिकर्तरि कर्तृत्वौपयिकं यावद्दृष्टं क्षित्यादि कर्तर्यपि तावदवश्यं स्वीकर्तव्यम्, दृष्टान्तस्य तुल्यत्वात् । तथाचोभयतःपाशा रज्जुः । तदङ्गीकारेऽस्मदादितुल्यत्वादनश्वरत्वं तदनङ्गीकारे च कर्तृत्वानुपपत्त्याऽसिद्धिरेवेत्येवंरूपः कुतर्क इत्यर्थः । सिद्धान्तं वदन्कुतर्कं विशिनष्टि–अनवसरदुःस्थः नास्त्यवसरोऽवकाशोऽस्येत्यनवसरः, अत एव दुःस्थो दुष्टत्वेन स्थितः । विचित्रनानाशक्तिमायावशेन सर्वनिर्मातरि सर्वतर्कागोचरे त्वयि नास्ति कुतर्कावसर इत्यर्थः तथाचोक्तम्–'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' न च घटादिकर्तरि यावद्दृष्टं तावत्क्षित्यादिकर्तर्यपि साधनीयम्, व्याप्तिं विना सामानाधिकरण्यमात्रस्यासाधकत्वात् । अन्यथा महानसे धूमवह्न्योर्व्याप्तिग्रहणसमये एव व्यंजनादिसत्त्वमपि दृष्टमिति पर्वतादावपि तदनुमानं स्यात । तस्मात्साधर्म्यसमा जातिरेषा । स्वव्याघातकत्वादनुत्तरम् । पराक्रान्तं चात्र सूरिभिरित्युपरम्यते । हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ ५ ॥

संस्कृत टीका

तामेवोक्तां व्याक्रोशीं विशदयति । (सः) प्रसिद्धः (धाता) सृष्टिकर्ता (किमीहः) सृष्टौ तस्य का ईहा, अर्थात्कया चेष्टया त्रिभुवनं सृजतीति सर्वत्र योजनीयम् । (किंकायः) कीदृग्रूपः कीदृशेन शरीरेण वा (किमुपायः) केनोपायेन, कीदृगुपायशीलो भूत्वा (किमाधारः) केन आधारेण, कुत्रस्थित्वेत्यादिवत् (किमुपादानः) सन् । केन उपादानकारणेन, किंनिमित्तमिति यावत् (च) इति समुच्चये (त्रिभुवनं) त्रैलोक्यं, सचराचरं ब्रह्माण्डं वा (सृजति) विरचयति (खलु) इति निश्चयार्थः (इति) एवंविधे (अतर्क्यैश्वर्ये) अचिन्तनीयवैभवे (त्वयि) विषये (अनवसरदुःस्थः) अवकाशाभावाद्दुर्बलस्तुच्छ इतियावत (अयं) उपर्युक्तः (कुतर्कः) कुत्सितविचारः (कांश्चित्) अनेकान् (हतधियः) विनष्टबुद्धीन् (जगतः) लोकस्य (मोहाय) प्रतारणाय (मुखरयति) वाचालयति ।

अत्र अचिन्त्यप्रभावे ईश्वरे स्पृहा-काय-कारणादिरूपः कुतर्को जगद्भ्रमनायैवेति सोपपत्तिकं नास्तिकादिमतं तिरस्कृतमिति यथोक्तं पुराविद्भिः-"इच्छया कुरुते देहं, मिच्छया वितनुर्भवेत्। क्रीडते भगवान् लोके, बालक्रीडनकैरिव" ॥ ५ ॥

तथाच स्कन्दपुराणस्य माहेश्वरखण्डे-अरुणाचलमाहात्म्योत्तरखण्डे ऽप्युक्तं अ० १०—

"कस्मादेष समुत्पन्नः किम्मूलः किमुपाधिकः।
कुतस्त्यः किमुपादानः कया शक्त्या प्रकाशते ॥ २१ ॥"

संस्कृतपद्यानुवादः

कयेच्छया कीदृशरूपधारी,
केनाप्युपायेन च कस्य हेतोः।
स्थित्वाथ कुत्राब्जजनिर्विधाता,
करोति सृष्टिं जगतां त्रयाणाम् ॥
एवंविधं निरवकाशहतं कुतर्कं,
कुर्वन्ति नाम कुधियो विषये त्वदीये।
नोतर्कणीयविभवोऽस्तिभवा नतस्तं,
मोहाय सर्वजगतः प्रवदन्ति केचित् ॥ ५ ॥

भाषाटीका

अब आस्तिकों के मतानुसार ब्रह्मा सृष्टि-कर्ता है जैसा कि पूर्व श्लोक में तीनों देवों को प्रतिपादित करचुके हैं-अत एव इस सिद्धान्त के ऊपर नास्तिक इत्यादिकों के कुतर्कों का उल्लेख करते हैं (सः) वह प्रसिद्ध (धाता) सृष्टिकर्ता (त्रिभुवनं सृजति) त्रैलोक्य को सिरजता है (किमीहः) कौन सी इच्छा रखता है-अर्थात किस इच्छा [गरज] से सृष्टि रचता है,? (किंकायः) कैसा देह धरलेता है-अर्थात् सृष्टि रचते समय उसका शरीर कैसा रहता है ? (किमुपायः) कौन से उपायों का स्वीकार करता है ! (किमाधारः) कौनसा आधार रहता है-अर्थात् कहां बैठकर अथवा किस वस्तु पर रखकर-इत्यादि, योंहीं (किमुपादानः) किसकारण से, किंवा

क्यों सृष्टि करता है ? (इति च) इत्यादि प्रकार की औरभी बहुतेरी शंकाओं से युक्त होने पर भी (अतर्क्यैश्वर्ये त्वयि) तर्क करने के योग्य नहीं है ऐश्वर्य जिसका ऐसे आपके विषय में (अनवसरदुःस्थः) अवकाश [मोका] नहीं पाने से अस्वस्थ [डामाडोल] (अयं कुतर्कः) पूर्वोक्त कुतर्क (कांश्चित् हताधियः) कितनेही भ्रष्टबुद्धिवालों को (जगतः मोहाय) संसार को मोहित करने के लिये अर्थात् भ्रमजाल में डालकर फासने के लिए (मुखरयति) कहवाता है (खलु) निश्चय करके। भावार्थ-यह है कि यदि ब्रह्माही सृष्टि रचता है तो किस इच्छासे, कैसा शरीर धर कर, और कौन सी सामग्री [मसाला) लेकर, कहां बैठ, किसकारण से सृष्टि करता है ? यह सब नष्टमति लोगों का कुतर्क केवल संसार के ठगनेही के लिए है-इसमें कुछ सन्देह नहीं है, क्योंकि आपकी महिमा में तो तर्क करने का स्थान ही नही है अतएव वह सर्वथा अचिन्तनीय है-फिर आस्तिकों का तो यह सिद्धान्त दृढ ही है कि—

"जेहि सृष्टि उपाई विविध बनाई संग सहाय न दूजा।" तु० रा०) ॥ ५ ॥

भाषापद्यानुवादः

किहि इच्छा किमितनु धरी, का उपाय भयलोक ।
कहां बैठि ब्रह्मा सृजत, किहि कारन बेरोक ॥
तुव ऐश्वर्ज अतर्क्य पै, करि कुतर्क हतबुद्धि ।
मोहहिं जग अवकास बिनु, बतराबहि निज सुद्धि ॥ ५ ॥

भाषाबिम्बम्

करी का इच्छा सो किमि तनु धरी का जतनते,
कहाँ बैठ्यो ब्रह्मा रचत जग-सृष्टी किहि लिये ।
जगत्के मोहै को कुतरक कुबुद्धी सब करैं,
तिहारो ऐश्वर्जै अगम उनही (को) क्यों झलकि है ॥ ५ ॥

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधि रनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दा स्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥ ६ ॥

❀ मधुसूदनी टीका ❀

एवं प्रतिकूलतर्कं परिहृत्यानुकूलतर्कमुद्भावयन्स्तौति-

अजेति हे अमरवर सर्वदेवश्रेष्ठ, अवयववन्तोऽपि सावयवा अपि लोकाः क्षित्यादयः किमजन्मानो जन्महीनाः । किंशब्द आक्षेपे । तेन न जन्महीनाः किंतु जन्या एवेत्यर्थः । तेन सावयवत्वेन क्षित्यादेर्न जन्यत्वहेतोरासिद्धत्वम् । 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इति न्यायात् स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वेनैव जन्यत्वनियमाच्च । तथा जगतां क्षित्यादीनां भवविधिरुत्पत्तिक्रियाऽधिष्ठातारं कर्तारमनादृत्यानपेक्ष्य किं भवति । अपेक्ष्यैव भवतीत्यर्थः । तेन कार्यत्वसकर्तृकत्वयो रव्यभिचारान्नानैकान्तिकत्वं हेतोः । तथानीशो वा ईश्वरादन्यो वा यदि कुर्यात्तर्हि भुवनजनने कः परिकरः का सामग्री ।अनीश्वरस्य स्वशरीररचनामप्यजानतो विचित्रचतुर्दशभुवनरचनाऽसंभवादीश्वर एव रचनां करोतीत्यर्थः । परिकरमिति पाठे को वानीश्वरो भुवनजनने परिकरमारम्भं कुर्यात् । अपि त्वीश्वर एव कुर्यादित्यर्थः । एते नार्थान्तरता परिहृता । एवमनुमानदोषानुद्धृत्य शङ्कितदोषान्तरं निराकुर्वन्नुपसंहरति-यत इति । यत एवं सर्वप्रमाणसिद्धस्त्वं, अतस्ते मन्दा मूढा नतु विद्वांसः इमे ये त्वां प्रति संशेरते संदेहवन्तः किमुत विपर्ययवन्त इत्यर्थः । 'जन्माद्यस्य यतः' इति न्यायेन 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्ब्रह्म' आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतिरेव परमेश्वरे प्रमाणम् । अनुमानं त्वनुकूलं तर्कमात्रं श्रुतेर्न स्वातन्त्र्येण प्रमाणमिति द्रष्टव्यम । हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ ६ ॥

संस्कृत टीका

पूर्वोक्तमेव व्यञ्जयति । (अमरवर) हे सुरश्रेष्ठ ! देवाधिदेव ! महादेवेत्यर्थः (अवयववन्तोऽपि) अङ्गोपाङ्गसमन्विता अपि (लोकाः) भुवनानि (किं) कथं वेति पृच्छायां (अजन्मानः) जन्मरहिताः सन्ति किमेतेषां जन्म न विद्यते ? यतः सावयवत्वन्तु जन्मत्वावच्छिन्नमेव यथा घटपटादयः, तद्वत् लोका अपि सावयवाः, तर्हि सावयवत्वादवश्यमेव तेऽपि जन्मवन्त इत्येव सिद्धम् । एवमेव (भवविधिः) सृजनकर्मापि (जगतां) लोकानां (अधिष्ठातारं) चेतनस्वरूपं निमित्तकारणं ईश्वरं (अनादृत्य) तिरस्कृत्य अनपेक्ष्येत्यर्थः (किं) इति प्रश्ने (भवति) भवितुमर्हति ? अर्थाद्विनैव कर्तारं सृष्टिर्भवति किं ? तथाच दिक्कालधर्माधर्मपरमाण्वादीनि चेतनाधिष्ठानस्वीकृतान्येव स्वकार्योत्पत्तौ प्रवर्तन्ते न चान्यथा (वा) अथवा (अनीशः ईश्वरत्वहीनः ईश्वरभिन्नो महदैश्वर्य्यबहिर्भूतः कश्चित् (कुर्यात्) कर्तुं योग्यो भवेच्चेत् तदा तस्य (भुवनजनने) लोकसृष्टौ (कः) किं रूपः (परिकरः) सामग्री, प्रगाढगात्रिकाबन्धो वा, कृ-विक्षेपे ।-इत्यस्माद्धातोः "ऋदोरप्"-३ । ३ । ५७-इत्यप्-प्रत्ययः । अथवा पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण"-३ । ३ । ११८-इत्यस्मात् घ-प्रत्ययेऽपि रूपसिद्धिः । तथाच—

"भत्रतपरिकराम्राते, पर्य्यङ्कपरिवारयोः ।
प्रगाढगात्रिकाबन्धे, विवेकारम्भयोरपि ॥" इति विश्वप्रकाशः ।

अथवा—"यत्नारम्भौ परिकरौ"—इतित्रिकाण्डशेषोक्तोऽर्थो ग्राह्यः । (यतः) यस्मात्कारणात् (इमे) पूर्वोक्तमतवादिनः (मन्दाः) मूढबुद्धयः (त्वां प्रति) भवतो विषये (संशेरते) सन्देहं कुर्वन्तीति । अत्र विनैवेश्वरं न कोऽपि सृष्टिकर्मणि समर्थ इति निरूप्य तन्निमित्तकोऽखिलोऽपि सन्देहो दूरीकृत इत्यवधेयम् ॥ ६ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

भूत्वा कथं सावयवा स्तु लोका, अजन्मिन स्सन्ति कदापि वाच्याः।
जगन्नियन्तु श्च निरादरेण, कथं स्वयं जन्म (सृष्टि) विधिक्रमो वा॥
भवेद नीशो भुवनादिसृष्टौ, कथं समर्थः परिचिन्त्य मेतत् ?।
इमे महामन्दतमा यत स्तं, संशेरते त्वां प्रति देव देव!॥ ६॥

भाषा टीका

(अमरवर) हे सर्वदेवश्रेष्ठ! महादेव! (अवयववन्तोऽपि) समस्त अंगों से परिपूर्ण रहनेवाले भी (लोकाः) त्रिभुवन (किं) क्या (अजन्मानः) जन्म से रहित हैं? अर्थात् क्या इन सब भुवनों का जन्म नहीं हुआ है, आप से आपही उत्पन्न होगये हैं, (भव-विधिः) सृष्टिका कर्म (जगतां अधिष्ठातारं) समस्त लोकोंके नियन्ता जगदीश्वरको (अनादृत्य) मानने के बिना (किं भवति) क्या हो सकता है? (वा) अथवा (अनीशः) ईश्वरसे भिन्न, यदि कोई (कुर्य्यात्) सृष्टि करे तो (भुवनजनने) संसार की सृष्टि रचनेमें, उसीकी (कः परिकरः) कौनसी सामग्री [मसाला] है? (यतः) जिसके लिए (इमे मन्दाः) ये सब मतिमन्द (त्वां प्रति संशेरते) आपके ऊपर सन्देह करने लगते हैं। भाव यह है कि-जिसमें अंग होते हैं वह जन्मधारी होता है अत एव ये सब चौदहों [अथवा असंख्य] ब्रह्माण्ड अङ्गयुक्त होनेसे अवश्यमेव जन्मवन्त ही हैं-क्योकि जगत्कर्ता के विना दूसरा कोई कैसे सृष्टि रचसकता है? यदि मान लिया जावे कि ईश्वर से भिन्न कोई दूसरा ही सृष्टिकर्ता है तो बतलाना चाहिए कि उसके पास कौन कौनसी सामग्रियां हैं-? अर्थात् वह भी कहां बैठकर कैसा रूप धरकर एवं कौन से वस्तुओं को लेकर सृष्टि रचता है? यदि यह बात भी नहीं है तो फिर ये सब मूर्ख आप ही के विषयमें क्यों सन्देह करते हैं-इससे यह सिद्ध होता है कि आपही सृष्टि रचने वाले हैं। इस श्लोकसे इससे पहिले "किमीहः" (५) श्लोक की कही हुई समस्त शंका-

ओंका युक्ति पूर्वक समाधान करादिया है-और उक्त कुतर्कोंका तर्कही द्वारा खंडन करके सावयवत्व होने से जन्मधारी होना भी सिद्ध करदिखाया है ॥ ६ ॥

भाषापद्यानुवादः

जन्म लहे विनु लोक किमि, अवयव युक्त लखात ? ।
बिनहि विधाता के सृजे, कैसै जग वनिजात ॥
विनु जगदीसै को रहत, उद्यत सर्जन (सृष्टी) मांहि ? ।
महादेव ! तुम पै करत-संसय मूढ बुझां (वता) हि ॥ ६ ॥

भाषाविम्बम्

विना लीन्है जन्मै सकल जग क्यों अंग धरई ?,
भला कैसे कर्ता विनहि सब सृष्टी वनिगई ? ।
विधाता जौ नाहीं सृजन लागि को उद्यत रहै ?
तबौ ये अज्ञानी क (ध)रत वहु सन्देह तुम पै ॥ ६ ॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णव मिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने पर मिद मदः पथ्य मिति च ।
रुचीनां वैचित्र्या दृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणा मेको गम्य स्त्व मसि पयसा मर्णव इव ॥७॥

मधुसूदनी टीका

एवं तावत्प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य भगवद्विमुखान्निरस्य सर्वेषां शास्त्रप्रस्थानानां भगवत्येव तात्पर्यं साक्षात्परम्परया वेति वद न्स्तौति—

त्रयीति। हे अमरवर, नाना संकीर्णाः पन्थानः नानापथाः ऋजवश्च कुटिलाश्च ऋजुकुटिलाः ऋजुकुटिलाश्च ते नानापथाश्चेति ऋजुकुटिलनानापथास्ताञ्जुषन्ते भजन्तीति तथा तेषां नृणामधिकार्यनधिकारिसाधारणानां तत्तत्साधनानुष्ठानैः साक्षात्परम्परया वा त्वमेवैको गम्यः प्राप्यः नत्वन्यः कश्चिदित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह– पयसामर्णव इव। यथा ऋजुपथजुषां गङ्गानर्मदादीनां साक्षादेव समुद्रः प्राप्यः, यथा वा कुटिलपथजुषां यमुनासरय्वादीनां गङ्गादिप्रवेशद्वारा परम्परया, एव वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिनिष्ठानां साक्षात्त्वं प्राप्यः, अन्येषां त्वन्तःकरणशुद्धितारतम्येन परम्परया त्वमेव प्राप्यः। चेतत्वेनैव मोक्षयोग्यत्वात्परमात्माभ्युपगमाच्चेत्यर्थः। ननु-ऋजुमार्गे सति तं विहाय किमिति कुटिलमार्गं भजन्ते ऋजुमार्गस्यैव शीघ्रफलदायित्वादित्यत आह। प्रभिन्ने प्रस्थाने इदं परं पथ्यं अदः परं पथ्यमिति च रुचीनां वैचित्र्यात्तास्मिस्तस्मिञ्शास्त्रप्रस्थाने इदमेव श्रेष्ठमिदमेव मम हितमितीच्छाविशेषाणामनेकप्रकारत्वात् प्राग्भवीयतत्तत्कर्मवासनावशेन ऋजुत्वकुटिलत्वानिश्चयासामर्थ्यात्कुटिलेऽपि ऋजुभ्रान्त्या प्रवर्तन्त इत्यर्थः। प्रस्थानभेदमेव दर्शयति त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति। सर्वशास्त्रोपलक्षणमेतत्। तथाहि त्रयीशब्देन वेदत्रयवाचिना तदुपलक्षिता अष्टादश विद्या अप्यत्र विवक्षिताः। तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद इति वेदाश्चत्वारः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति वेदाङ्गानि षट्। पुराणानि न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति चत्वार्युपाङ्गानि। अत्रोपपुराणानामपि पुराणेष्वन्तर्भावः। वैशेषिकशास्त्रस्य न्याये, वेदान्तशास्त्रस्य मीमांसायाम्, महाभारतरामायणयोः सांख्यपातञ्जलपाशुपतवैष्णवादीनां च धर्मशास्त्रेष्विति मिलित्वा चतुर्दश विद्याः। तथा चोक्तम् 'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' इति। एता एव चतुर्भिरुपवेदैः सहिता अष्टादश विद्या भवन्ति। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्ववेदोऽर्थशास्त्रं चेति चत्वार उपवेदाः। ता एता अष्टादश विद्यास्त्रयी सांख्यमित्यनेनोपन्यस्ताः। अन्यथा न्यूनताप्रसङ्गात्। सर्वेषां चास्तिकानामेतावन्त्येव शास्त्रप्रस्थानानि। अन्येषामप्येकदेशिनामेष्वेवान्तर्भावात्। ननु नास्तिकानामपि प्रस्थानान्तराणि सन्ति तेषामेतेष्वनन्तर्भावा-

न्युपन्यपवित्तुमुचितानि । तथाहि शून्यवादेनैकं प्रस्थानं माध्यमिकानाम् । क्षणिकविज्ञानमात्रवादेनापरं योगाचाराणाम् । ज्ञानाकारानुमेयक्षणिकबाह्यार्थवादेनापरं सौत्रान्तिकानाम् । प्रत्यक्षस्वलक्षणक्षणिकबाह्यार्थवादेनापरं वैभाषिकानाम् । एवं सौगतानां प्रस्थानचतुष्टयम् । तथा देहात्मवादेनैकं प्रस्थानं चार्वाकाणाम् । एवं देहातिरिक्तदेहपरिणामात्मवादेन द्वितीयं प्रस्थानं दिगम्बराणाम् । एवं मिलित्वा नास्तिकानां षट् प्रस्थानानि तानि कस्मान्नोच्यन्ते । सत्यम् । वेदबाह्यत्वात्तु तेषां म्लेच्छादिप्रस्थानवत्परम्परयापि पुरुषार्थानुपयोगित्वादुपेक्षणीयत्वमेव इह च साक्षाद्वा परम्परया वा पुमर्थोपयोगिनां वेदोपकरणानामेव प्रस्थानानां भेदो दर्शितोऽतो न न्यूनत्वशङ्कावकाशः ॥ अथ संक्षेपेणैषां प्रस्थानानां स्वरूपभेदहेतुः प्रयोजनभेद उच्यते बालानां व्युत्पत्तये । तत्र धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयं प्रमाणवाक्यं वेदः । स च मन्त्रब्राह्मणात्मकः । तत्र मन्त्रा अनुष्ठानकारणभूतद्रव्यदेवताप्रकाशकाः तेऽपि त्रिविधाः । ऋग्यजुः सामभेदात् । तत्र पादबद्धगायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टा ऋचः 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्याद्याः । ता एव गीतिविशिष्टाः सामानि । तदुभयविलक्षणानि यजूंषि । 'अग्नीदग्नीन्विहर' इत्यादिसम्बोधनरूपनिगदसंज्ञामन्त्रा अपि यजुरन्तर्भूता एव । तदेव निरूपिता मन्त्राः ॥ ब्राह्मणमपि त्रिविधम् । विधिरूपम् ,अर्थवादरूपम्, तदुभयविलक्षणं च । तत्र शब्दभावना विधिरिति भाट्टाः । नियोगो विधिरिति प्राभाकराः । इष्टसाधनता विधिरिति तार्किकादयः । सर्वो विधिरपि चतुर्विधः । उत्पत्त्यधिकारविनियोगभेदात् । तत्र (१)देवताकर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति, इत्यादिः । सेति (२)कर्तव्यताकस्य करणस्य यागादेः फलसम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिः 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिः । अङ्गसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः 'व्रीहिभिर्यजेत', 'समिधो यजति' इत्यादिः । साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगैक्यबोधकः पूर्वविधित्रयमेलनरूपः प्रयोगविधिः । स च श्रौत इत्येके । कल्प्य इत्यपरे ॥ कर्मस्वरूपं च द्विविधम् । गुणकर्म अर्थकर्म च । तत्र क्रतुकारकाण्याश्रित्य विहितं गुणकर्म । तदपि चतुर्विधम् । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिभेदात् तत्र 'वसन्ते ब्रा-

(१) 'तत्र कर्मस्वरूप' इति पाठः । (२) 'इतिकर्तव्यताकरणस्य' इति पाठः ।

ह्मणोऽग्नीनादधीत', 'यूपं तक्षति' इत्यादावाधानतक्षणादिना संस्कारविशेषविशिष्टाग्नियूपादेरुत्पत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', 'गां पयो दोग्धि' इत्यादावध्ययनदोहनादिना विद्यमानस्यैव स्वाध्यायपयः-प्रभृतेः प्राप्तिः। 'सोममभिषुणोति', 'व्रीहीनवहन्ति', 'आज्यं विलापयति' इत्यादावभिषवावघातविलापनैः सोमादीनां विकारः। व्रीहीन्प्रोक्षति', 'पत्न्यवेक्षते' इत्यादौ प्रोक्षणावेक्षणादिभिर्व्रीह्यादिद्रव्याणां संस्कारः। एतच्चतुष्टयं चाङ्गमेव। तथा क्रतुकारकाण्यनाश्रित्य विहितमर्थकर्म। तच्च द्विविधम्। अङ्गं प्रधानं च। अन्यार्थमङ्गम्। अनन्यार्थं प्रधानम्। अङ्गमपि द्विविधं संनिपत्योपकारकमारादुपकारकं च। तत्र प्रधानस्वरूपनिर्वाहकं प्रथमं यथाऽवहननप्रोक्षणादि फलोपकारि। द्वितीयं यथा प्रयाजादि। एवं संपूर्णाङ्गसंयुक्तो विधिः प्रकृतिः। विकलाङ्गसंयुक्तो विधिर्विकृतिः। तदुभयविलक्षणो विधिर्दर्वीहोमः। एवमन्यदप्यूह्यम्। तदेवं निरूपितो विधिभागः। प्राशस्त्यनिन्दान्यतरलक्षणया विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः। स च त्रिविधः। गुणवादोऽनुवादो भूतार्थवादश्चेति। तत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोधको गुणवादः 'आदित्यो यूपः' इत्यादिः। प्रमाणान्तरप्राप्तार्थबोधकोऽनुवादः 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिः। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधको भूतार्थवादः 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' इत्यादिः। तदुक्तम्-'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। तत्र त्रिविधानामप्यर्थवादानां विधिस्तुतिपरत्वे समानेऽपि भूतार्थवादानां (१)स्वतः प्रामाण्यम्। देवताधिकरणन्यायात्। अबाधिताज्ञातार्थज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम्। तच्च बाधितविषयत्वाज्ज्ञापकत्वाच्च न गुणवादानुवादयोः। भूतार्थवादस्य तु स्वार्थे तात्पर्यरहितस्याप्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यं न विहन्यते। तदेवं निरूपितोऽर्थवादभागः। विध्यर्थवादोभयविलक्षणं तु वेदान्तवाक्यम्। तच्चाज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यनुष्ठानाप्रतिपादकत्वाच्च विधिः। स्वतःपुरुषार्थपरमानन्दज्ञानात्मकब्रह्मणि स्वार्थे उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया स्वतः प्रमाणभूतं सर्वानपि विधीनन्तः करणशुद्धिद्वारा स्वशेषतामापादयदन्यशेषत्वाभावाच्च नार्थ-

(१) 'स्वार्थेऽपि' इति पाठः।

वादः तस्मादुभयविलक्षणमेव वेदान्तवाक्यम् । तच्च क्वचिदज्ञात ज्ञापकत्वमात्रेण विधिरिति व्यपदिश्यते । विधिपदरहितमपि प्रमाणवाक्यत्वेन च क्वचिद्भूतार्थवाद इति व्यवह्रियत इति न दोषः । तदेवं त्रिविधं निरूपितं ब्राह्मणम् ॥ एवं च कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डात्मको वेदो धर्मार्थकाममोक्षहेतुः । स च प्रयोगत्रयेण यज्ञनिर्वाहार्थमृग्यजुः सामभेदेन भिन्नः । तत्र हौत्रप्रयोग ऋग्वेदेन आध्वर्यवप्रयोगो यजुर्वेदेन, औद्गात्रप्रयोगः सामवेदेन । ब्राह्मयजमानप्रयोगो त्वत्रैवान्तर्भूतौ । अथर्ववेदस्तु यज्ञानुपयुक्तोऽपि शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकादिकर्मप्रतिपादकत्वेनात्यन्तविलक्षण एव । एवंच प्रवचनभेदात्प्रतिवेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः । एवं च कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपि(१) सर्वासां वेदशाखानामेकरूपकत्वमेव ब्रह्मकाण्डमिति चतुर्णां वेदानां प्रयोजनभेदेन भेद उक्तः ॥ अथाङ्गानामुच्यते । तत्र शिक्षाया उदात्तानुदात्तस्वरितह्रस्वदीर्घप्लुतादिविशिष्टस्वरव्यञ्जनात्मकवर्णोच्चारणविशेषज्ञानं प्रयोजनम् । तदभावे मन्त्राणामनर्थकफलत्वात् । तथा चोक्तम्–"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इति । तत्र सर्ववेदसाधारणी शिक्षा 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि' इत्या(२)दिनवखण्डात्मिका पाणिनिना प्रकाशिता । प्रतिवेदशाखं च भिन्नरूपाः । प्रातिशाख्यसंज्ञिता अन्यैरेव मुनिभिः प्रदर्शिताः । एवं वैदिकपदसाधुत्वज्ञानेनोहादिकं व्याकरणस्य प्रयोजनम् । तच्च 'वृद्धिरादैच्' इत्याद्यध्यायाष्टकात्मकं महेश्वरप्रसादेन भगवता पाणिनिनैव प्रकाशितम् । तत्र कात्यायनेन मुनिना पाणिनीयसूत्रेण वार्तिकं विरचितम् । तद्वार्तिकोपरि च भगवता पतञ्जलिना महाभाष्यमारचितम् । तदेतत्त्रिमुनिव्याकरणं वेदाङ्गमाहेश्वरमित्याख्यायते । कौमारादिव्याकरणानि तु न वेदाङ्गानि किंतु लौकिकप्रयोगमात्रज्ञानार्थानीत्यवगन्तव्यम् । एवं शिक्षाव्याकरणाभ्यां वर्णोच्चारणे पदसाधुत्वे च ज्ञाते वैदिकमन्त्रपदानामर्थज्ञानाकाङ्क्षायां तदर्थं भगवता यास्केन 'समाम्नायः समाम्नातः (स व्याख्यातव्यः)' इत्यादि त्रयोदशाध्यायात्मकं निरुक्तमारचितम् । तत्र च नामाख्यातनिपातोपसर्गभेदेन चतुर्विधं पदजातं निरूप्य वैदिकमन्त्रपदानामर्थः प्रदर्शि-

(१) 'सर्वात्मना' इति पाठः । (२) 'पञ्चखण्डात्मिका' इति पाठः ।

तः । मन्त्राणां चानुष्ठेयार्थप्रकाशनद्वारेणैव करणत्वात्, पदार्थज्ञानाधीनत्वाच्च वाक्यार्थज्ञानस्य मन्त्रस्थपदार्थज्ञानाय निरुक्तमवश्यमपेक्षितम् । अन्यथानुष्ठानासंभवात् । सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतून इत्यादीनामतिदुरूहाणां प्रकारान्तरेणार्थज्ञानस्यासंभावनीयत्वाच्च । एव निघण्ट्वादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव । तत्रापि निघण्टुसंज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः । अन्येप्यमरहेमचन्द्रादिप्रणीताः कोशाः सर्वे निघण्टुरूपत्वेन निरुक्तान्तर्गता द्रष्टव्याः । एवमृङ्मन्त्राणा पादवद्धच्छन्दोविशेषविशिष्टत्वात्तदज्ञाने च निन्दाश्रवणाच्छन्दोविशेषनिमित्तानुष्ठानविशेषविधानाच्च छन्दोज्ञानाकाङ्क्षायां तत्प्रकाशनाय 'धीश्रीस्त्रीम्' इत्याद्यष्टाध्यायात्मिका छन्दोविचितिर्भगवता पिङ्गलनागेन विरचिता । तत्र 'अथ लौकिकम्' इत्यन्तेनाध्यायत्रयेण गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीति सप्त छन्दांसि सर्वाणि सावान्तरभेदानि प्रसङ्गान्निरूपितानि । 'अथ लौकिकम्' इत्यारभ्याध्यायपञ्चकेन पुराणेतिहासादावुपयोगिनि लौकिकानि छन्दांसि प्रसङ्गान्निरूपितानि व्याकरणे लौकिकपदनिरूपणवत् । एवं वैदिककर्माङ्गदर्शादिकालज्ञानाय ज्योतिषं भगवतादित्येन गर्गादिभिश्च प्रणीतं बहुविधमेव । एवं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण वैदिकानुष्ठानक्रमविशेषज्ञानाय कल्पसूत्राणि । तानि च प्रयोगत्रयभेदात्त्रिविधानि । तत्र हौत्रप्रयोगप्रतिपादकान्याश्वलायनसांख्यायनादिप्रणीतानि । आध्वर्यवप्रयोगप्रतिपादकानि बौधायनापस्तम्बकात्यायनादिप्रणीतानि । औद्गात्रप्रयोगप्रतिपादकानि तु (१)लाट्यायनद्राह्यायणादिभिः प्रणीतानि । एवं निरूपितः षण्णामङ्गानां प्रयोजनभेदः ॥

चतुर्णामुपाङ्गानामधुनोच्यते । तत्र 'सर्गप्रतिसर्गवंशमन्वन्तरवंशानुचरितप्रतिपादकानि भगवता बादरायणेन कृतानि पुराणानि । तानि च ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं शैवं भागवतं नारदीयं मार्कण्डेयं आग्नेयं भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गं वाराहं स्कान्दं वामनं कौर्मं मात्स्यं गारुडं ब्रह्माण्डं चेत्यष्टादश । एवमुपपुराणान्यप्यनेकप्रकाराणि द्रष्टव्यानि ॥ न्याय आन्वीक्षिकी पञ्चाध्यायी गौतमेन प्रणीता । प्रमाण-

---

(१) 'लाह्यायनद्राह्यायणादिभिः' इति पाठः ।

प्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाख्यानां षोडशपदार्थानामुद्देशलक्ष-णपरीक्षाभिस्तत्त्वज्ञानं तस्याः प्रयोजनम् । एवं दशाध्यायं वैशेषिक-शास्त्रं कणादेन प्रणीतम् । द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां भावपदार्थानामभावसप्तमानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां व्यु-त्पादने तस्य प्रयोजनम् । एतदपि न्यायपदेनोक्तम् ॥ एवं मीमांसापि द्विविधा । कर्ममीमांसा शारीरकमीमांसा च । तत्र द्वादशाध्यायी कर्ममीमांसा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इत्यन्ता भगवता जैमिनिना प्रणीता । तत्र धर्मप्रमाणं१, धर्मभेदाभेदौ२, शेषशेषिभावः ३, क्रत्वर्थपुरुषार्थभेदेन प्रयुक्तिविशेषः ४, श्रुत्यर्थ-पाठनादिक्रमभेदः ५, अधिकारविशेषः ६, सामान्यातिदेशः ७, विशेषातिदेशः ८, ऊहः ९, बाधः १०, तन्त्रं ११, प्रसङ्गश्च १२, इति क्रमेण द्वादशानामध्यायानामर्थाः । तथा च संकर्षणकाण्डम-प्यध्यायचतुष्टयात्मकं जैमिनिना प्रणीतम् । तच्च देवताकाण्डसंज्ञया प्रसिद्धमप्युपासनाख्यकर्मप्रतिपादकत्वात्कर्ममीमांसान्तर्गतमेव ॥ त-था चतुरध्यायी शारीरकमीमांसा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिः अनावृत्तिः शब्दात् इत्यन्ता जीवब्रह्मैकत्वसाक्षात्कारहेतुश्रवणा-ख्यविचारप्रतिपादकान्न्यायानुपदर्शयन्ती भगवता बादरायणेन कृ-ता । तत्र सर्वेषामपि वेदान्तवाक्यानां साक्षात्परम्परया वा प्रत्य-गभिन्नाद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यमिति समन्वयः प्रथमाध्यायेन प्रद-र्शितः । तत्र च प्रथमपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तानि वाक्यानि विचारि-तानि द्वितीयपादे त्वस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तान्युपास्यब्रह्मविषयाणि । तृ-तीयपादेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि प्रायशो ज्ञेयब्रह्मविषयाणि । एवं पादत्र-येण वाक्यविचारः समापितः । चतुर्थपादे तु प्रधानविषयत्वेन सं-दिह्यमानान्यव्यक्ताजादिपदानि चिन्तितानि ॥ एवं वेदान्तानामद्वये ब्रह्मणि सिद्धे समन्वये तत्र संभावितस्मृतितर्कादिविरोधमाशङ्क्य तत्प-रिहारः क्रियत इत्यविरोधो द्वितीयाध्यायेन दर्शितः । तत्राद्यपादे सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्तैस्तर्कैश्च विरोधो वे-दान्तसमन्वयस्य परिहृतः । द्वितीये पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वं प्रतिपादितं, स्वपक्षस्थापनपरपक्षनिराकरणरूपपक्षद्वयात्मकत्वाद्वि-चारस्य । तृतीये पादे महाभूतसृष्ट्यादिश्रुतीनां परस्परविरोधः पूर्व-

भागेन परिहृतः। उत्तरभागेन तु जीवविषयाणाम्। चतुर्थपादे इन्द्रियादिविषयश्रुतीनां विरोधपरिहारः॥ तृतीयाऽध्याये साधननिरूपणम्। तत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगमननिरूपणेन वैराग्यं निरूपितम्। द्वितीयपादे पूर्वभागेन त्वंपदार्थः शोधितः। उत्तरभागेन च तत्पदार्थः। तृतीयपादे निर्गुणे ब्रह्मणि नानाशाखापठितः पुनरुक्तपदोपसंहारः कृतः। प्रसङ्गाच्च सगुणविद्यासु शाखान्तरीयगुणोपसंहारानुपसंहारौ निरूपितौ। चतुर्थपादे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिरङ्गसाधनान्याश्रमधर्मयज्ञदानादीनि, अन्तरङ्गसाधनानि शमदमनिदिध्यासनादीनि च निरूपितानि॥ चतुर्थेऽध्याये सगुणनिर्गुणविद्ययोः फलविशेषनिर्णयः कृतः। तत्र प्रथमपादे श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणं ब्रह्म, उपासनावृत्त्या सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवतः पापपुण्यालेपलक्षणा जीवन्मुक्तिरभिहिता। द्वितीयपादे म्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारश्चिन्तितः। तृतीयपादे सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गोऽभिहितः। चतुर्थपादे पूर्वभागेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तिरुक्ता। उत्तरभागेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोके स्थितिरुक्तेति। इदमेव सर्वशास्त्राणां मूर्धन्यं, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतमितीदमेव मुमुक्षुभिरादरणीयं श्रीशंकरभगवत्पादोदितप्रकारेणेति रहस्यम्॥ एवं धर्मशास्त्राणि मनुयाज्ञवल्क्यविष्णुयमाङ्गिरोवसिष्ठदक्षसंवर्तशातातपपराशरगौतमशङ्खलिखितहारीतापस्तम्बोशनोव्यासकात्यायनबृहस्पतिदेवलनारदपैठीनसिप्रभृतिभिः कृतानि वर्णाश्रमधर्मविशेषाणां विभागेन प्रतिपादकानि। एवं व्यासकृतं महाभारतं, वाल्मीकिकृतं रामायणं च धर्मशास्त्र एवान्तर्भूतं स्पष्टमितिहासत्वेन प्रसिद्धम्। सांख्यादीनां धर्मशास्त्रान्तर्भावेऽपीह स्वशब्देनैव निर्देशात्पृथगेव संगतिर्बोध्या। अथ वेदचतुष्टयक्रमेण चत्वार उपवेदाः। तत्रायुर्वेदस्याष्टौ स्थानानि भवन्ति सूत्रं शारीरमैन्द्रियं चिकित्सा निदानं विमानं कल्पः सिद्धिश्चेति। ब्रह्मप्रजापत्याश्विधन्वन्तरीन्द्रभरद्वाजात्रेयाग्निवेश्यादिभिरुपदिष्टश्चरकेण संक्षिप्तः। तत्रैव सुश्रुतेन पञ्चस्थानात्मकं प्रस्थानान्तरं कृतम्। एवं वाग्भटादिभिरपि बहुधेति न शास्त्रभेदः॥ कामशास्त्रमप्यायुर्वेदान्तर्गतमेव। सुश्रुतेन वाजीकरणाख्यकामशास्त्राभिधानात्। तत्र वात्स्यायनेन पञ्चाध्यायात्मकं कामशास्त्रं प्रणीतम्। तस्य च विषयवैराग्यमेव प्रयोजनं, शास्त्रोद्दीपितमार्गेणापि वि-

पवर्गोणे दुःखमात्रपर्यवसानात् । चिकित्साशास्त्रस्य च रोगतत्त्वाः धनरोगनिवृत्तितत्साधनज्ञानं प्रयोजनम् ॥ एवं धनुर्वेदः पादचतुष्टयात्मको विश्वामित्रप्रणीतः। तत्र प्रथमो दीक्षापादः । द्वितीयः संग्रहपादः । तृतीयः सिद्धिपादः । चतुर्थः प्रयोगपादः । तत्र प्रथमपादे धनुर्लक्षणमधिकारिनिरूपणं च कृतम्। तत्र धनुःशब्दश्चापे रूढोऽपि चतुर्विधायुधवाची वर्तते । तच्च चतुर्विधं मुक्तं अमुक्तं मुक्तामुक्तं यन्त्रमुक्तं च । तत्र मुक्तं चक्रादि, अमुक्तं खड्गादि, मुक्तामुक्तं शल्यावान्तरभेदादि । यन्त्रमुक्तं शरादि । तत्र मुक्तमस्त्रमित्युच्यते । अमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते । तदपि ब्राह्मवैष्णवपाशुपतप्राजापत्याग्नेयादिभेदादनेकविधम् । एवं साधिदैवतेषु समन्त्रकेषु चतुर्विधायुधेषु येषामधिकारः क्षत्रियकुमाराणां तदनुयायिनां च ते सर्वे चतुर्विधाः पदातिरथगजतुरगारूढाः दीक्षाभिषेकशकुनमङ्गलकरणादिकं च सर्वमपि प्रथमपादे निरूपितम्। सर्वेषां शस्त्रविशेषाणामाचार्यस्य च लक्षणपूर्वकं संग्रहणप्रकारो दर्शितः द्वितीये पादे । गुरुसंप्रदायसिद्धानां शस्त्रविशेषाणां पुनः पुनरभ्यासो मन्त्रदेवतासिद्धिकरणमपि निरूपितं तृतीयपादे । एवं देवतार्चनाभ्यासादिभिः सिद्धानामस्त्रविशेषाणां प्रयोगश्चतुर्थपादे निरूपितः । क्षत्रियाणां युद्धं दुष्टदस्युचौरादिभ्यः प्रजापालनं च धनुर्वेदस्य प्रयोजनम्। एवं च ब्रह्मप्राजापत्यादिक्रमेण विश्वामित्रप्रणीतं धनुर्वेदशास्त्रम् ॥ एवं गान्धर्ववेदशास्त्रं भरतेन प्रणीतम् । तत्र नृत्यगीतवाद्यभेदेन बहुविधोऽर्थः प्रपञ्चितः ॥ देवताराधननिर्विकल्पकसमाध्यादिसिद्धिश्च गान्धर्ववेदस्य प्रयोजनम्। एवमर्थशास्त्रं च बहुविधं नीतिशास्त्रमश्वशास्त्रं गजशास्त्रं शिल्पशास्त्रं सूपकारशास्त्रं चतुःषष्टिकलाशास्त्रं चेति। ताश्चतुःषष्टिकलाः शैवागमोक्ताः–गीतम् १, वाद्यम् २, नृत्यम् ३, नाट्यम् ४, आलेख्यम् ५, विशेषकच्छेद्यम् ६, तण्डुलकुसुमबलिविकाराः ७, पुष्पास्तरणम् ८, दशनवसनाङ्गरागाः ९, मणिभूमिकाकर्म १०, शयनरचनम ११, उदकवाद्यम् १२, उदकघातः वादः १३, अद्भुतदर्शनवेदिता १४, मालाग्रथनकल्पः १५, शेखरापीडयोजनम् १६, नेपथ्ययोगः १७, कर्णपत्रभङ्गाः १८, गन्धयुक्तिः १९, भूषणयोजनम् २०, इन्द्रजालम् २१, कौचुमारयोगाः २२, हस्तलाघवम् २३, चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रियाः२४, पानकरसरागासवयोजनम् २५, सूचीवा-

पकर्म २६, सूत्रक्रीडा २७, वीणाडमरुकवाद्यानि २८, प्रहेलिकाप्रति-
मालाः २९, दुर्वचकयोगाः ३०, पुस्तकवाचनम् ३१, नाटिकाख्या-
यिकादर्शनम् ३२, काव्यसमस्यापूरणम् ३३, पाट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः
३४, तर्कुकर्माणि ३५, तक्षणम् ३६, वास्तुविद्या ३७, रूप्यरत्नपरीक्षा
३८, धातुवादः ३९, मणिरागज्ञानम् ४०, आकरज्ञानम् ४१, वृक्षायुर्वे-
दयोगाः ४२, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः ४३, शुकसारिकाप्रलाप-
नम् ४४, उत्सादनम् ४५, केशमार्जनकौशलम् ४६, अक्षरमुष्टिकाक-
थनम् ४७, म्लेच्छितकविकल्पाः ४८, देशभाषाज्ञानम् ४९, पुष्पशकटि-
कानिमित्तज्ञानम् ५०, यन्त्रमातृका ५१, धरणमातृका ५२, असंवा-
च्यसंपाद्यम् मानसीकाव्यक्रियाविकल्पाः ५३, छलितकयोगाः ५४,
अभिधानकोशछन्दोज्ञानम् ५५, क्रियाविकल्पाः ५६, ललितविकल्पाः
५७, वस्त्रगोपनानि ५८, द्यूतविशेषः ५९, आकर्षक्रीडा ६०, बालक्री-
डनकानि ६१, वैनायकीविद्याज्ञानम् ६२, वैजयिविद्याज्ञानम ६३, वैता-
लिकीविद्याज्ञानम् ६४, इति चतुःषष्टिकलाः नानामुनिभिः प्रणीतम्।
तस्य च सर्वस्य लौकिकालौकिकतत्तत्प्रयोजनभेदो द्रष्टव्यः। एवमष्टा-
दशविद्यास्त्रयीशब्देनोक्ताः ॥ तथा सांख्यशास्त्रं कपिलेन भगवता
प्रणीतम्। तत्र त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ इत्यादिषड-
ध्यायाः। तत्र प्रथमेऽध्याये विषया निरूपिताः, द्वितीयेऽध्याये प्रधा-
नकार्याणि, तृतीयेऽध्याये विषयवैराग्यम्, चतुर्थेऽध्याये विरक्तानां
पिङ्गलाकुर(१)रादीनामाख्यायिकाः, पञ्चमेऽध्याये परपक्षनिर्जयः, षष्ठे
सर्वार्थसंक्षेपः। प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं सांख्यशास्त्रस्य प्रयोजनम् ॥
तथा योगशास्त्रं भगवता पतञ्जलिना प्रणीतम् 'अथ योगानुशा-
सनम्, इत्यादिपादचतुष्टयात्मकम्। तत्र प्रथमे पादे चित्तवृत्तिनिरो-
धात्मकं समाधिवैराग्यरूपं च तत्साधनं निरूपितम्। द्वितीये पादे
विक्षिप्तचित्तस्यापि समाधिसिद्ध्यर्थं यमानियमासनप्राणायामप्रत्याहा-
रधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि निरूपितानि। तृतीयपादे योगि-
विभूतयः। चपुर्थपादे कैवल्यमिति। तस्य च विजातीयप्रत्ययनि-
रोधद्वारेण निदिध्यासनसिद्धिः प्रयोजनम् ॥ तथा पशुपतिमतं पा-
शुपतं शास्त्रं भगवता पशुपतिना पशुपाशविमोक्षणाय 'अथातः पा-

(१) 'कुमारादीना' इति पाठः।

शुपतयोगविधिं व्याख्यास्यामः' इत्यादिपञ्चाध्यायं विरचितम्। तत्राध्यायपञ्चकेनापि कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिर्भस्मना त्रिषवणस्नानादिर्निरूपितः। दुःखान्तसंज्ञको मोक्षश्चास्य प्रयोजनम्। एते एव कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ता इत्याख्यायन्ते॥ एवं शैवं मन्त्रशास्त्रमपि पाशुपतशास्त्रान्तर्गतमेव द्रष्टव्यम्॥ एवं च वैष्णवनारदादिभिः कृतं पञ्चरात्रम्। तत्र वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाश्चत्वारः पदार्था निरूपिताः। भगवान्वासुदेवः परमेश्वरः सर्वकारणं तस्मादुत्पद्यते संकर्षणाख्यो जीवस्तस्मान्मनः प्रद्युम्नस्तस्मादनिरुद्धोऽहंकारः। सर्वे चैते भगवतो वासुदेवस्यैवांशभूतास्तदभिन्ना एवेति तस्य वासुदेवस्य मनोवाक्कायवृत्तिभिराराधनं कृत्वा कृतकृत्यो भवतीत्यादि च निरूपितम्। एवं वैष्णवमन्त्रशास्त्रं परिमित ? मपि पञ्चरात्रमध्येऽन्तर्भूतम्। वामागमादिशास्त्रं तु वेदबाह्यमेव॥ तदेवं दर्शितः प्रस्थानभेदः। सर्वेषां संक्षेपेण त्रिविध एव प्रस्थानभेदः। तत्रारम्भवाद एकः, परिणामवादो द्वितीयः, विवर्तवादस्तृतीयः। पार्थिवाप्यतैजसवायवीयाश्चतुर्विधाः परमाणवो द्व्यणुकादिक्रमेण ब्रह्माण्डपर्यन्तं जगदारभन्ते। असदेव कार्यकारणव्यापारादुत्पद्यत इति प्रथमः तार्किकाणां मीमांसकानां च। सत्वरजस्तमोगुणात्मकप्रधानमेव महदहंकारादिक्रमेण जगदाकारेण परिणमते, पूर्वमपि सूक्ष्मरूपेण सदेव कार्यं कारणव्यापारेणाभिव्यज्यत इति द्वितीयः पक्षः सांख्ययोगपाशुपतानां, ब्रह्मणः परिणामो जगदिति वैष्णवानामपि। स्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयं ब्रह्म स्वमायावशान्मिथ्यैव जगदाकारेण कल्प्यत इति तृतीयः पक्षो ब्रह्मवादिनाम्। सर्वेषां च प्रस्थानकर्तॄणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वर एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम्। नहि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वज्ञत्वात्तेषां, किंतु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति नास्तिक्यनिवारणाय तैः प्रकारभेदाः प्रदर्शिताः। तत्र तेषां तात्पर्यमबुद्ध्वा वेदविरुद्धेऽप्यर्थे तेषां तात्पर्यमुत्प्रेक्षमाणास्तत्तन्मतमेवोपादेयत्वेन गृह्णन्तो जना ऋजुकुटिलनानापथजुषो भवन्तीति न सर्वेषामृजुमार्ग एव प्रवेशो, नच वि(१)पर्ययेऽपि परमेश्वराप्राप्तिरन्तःकरणशुद्धिवशेन पश्चादृजुमार्गाश्रयणादेवेत्यर्थः। हरिपक्षेऽप्येवम्॥ ७॥

संस्कृत टीका

अधुना नास्तिकादिमतं खण्डयित्वा ईश्वरसत्तासिद्धिविधाना त्परमास्तिकाना मवान्तरमतं प्रपञ्चयति । (त्रयी) ऋग्यजुस्सा- मोक्तं श्रौतमतं (साङ्ख्यं) प्रकृतिपुरुषवादि कापिलशास्त्रं पञ्चविं- शतितत्त्वोपलक्षितं वा (योगः) पातञ्जलदर्शनोक्तसाधनरूपो यो- गक्रियाभ्यासः (पशुपतिमतं) शैवागमोक्तसिद्धान्तानुसारि पाशु- पतं मतं (वैष्णवं) नारदपञ्चरात्रागमादिकथितं विष्णुदैवतं मतं (इति) अनेन विधिना(प्रस्थाने) गमनीये मार्गे (प्रभिन्ने) बहुवि- धत्वं गते सति । अहम्मन्या स्तत्तदनुष्ठायिनः एवं वदन्ति यत् (इदं) मदुक्तमेव (परं) सर्वोत्कृष्टं तत्त्वमस्ति । अस्मात्परं ना- स्ति किञ्चिदिति च (अदः) एतदेव (पथ्यं) सेवनीयं, ग्राह्यं वा। पथिन् शब्दात्-"धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते—४। ४। ९२—इत्यतः अनपेतार्थे यत् । (इति च) इत्येवं प्रकारेण (रुचीनां) इच्छानां (वैचित्र्यात्) भिन्नरूपत्वात् (ऋजुकुटिलनानापथजुषां) सरलव- क्रादिभेदाद नेकविधमार्गगामिनां, स्वेच्छानुरूपभ्रमणकारिणां (नृणां) मनुष्याणां, देहिना मेवेति तात्पर्यार्थः (पयसां) सर्वेषां जलानां (अ- र्णव इव) समुद्रसमानः (त्वं) एव (एकः) अद्वितीयः (गम्यः) गमनार्हः (असि) विद्यसे ।

तथा चोक्तमपि गीतायाम्-"यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः, समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ती-"ति (२८ अ० ११) एवमेवोक्तं मु- ण्डकोपनिषदि च-"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति ना- मरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति च ८ ॥ ३ मु० २ ख० ॥"

इह "ऋजुकुटिले"-तिपदं रुचि-नृ-पयस्सु सर्वत्र योजनीयं अथवा कूर्मपुराणोत्तरार्धस्थेश्वरगीतायां मय्येवमुक्तं यथाप्ये

"यथा नदीनदा लोके सागरेणै कतां ययुः ।

तद्व दात्मा क्षरेणा सौ, निष्कलेनै कतां व्रजे-"दिति भावश्च—

अ० २ । श्लो० ३८ । सार्थकत्वात् । उदकानां समुद्र इव सर्वेषां श्रौ तादिमतानां प्राप्यस्थानं त्वमेवा सीति वै प्रकटितम् । यथा चो- क्तमपि—

"एक मेव परं तत्त्व, मभिन्नं परमार्थतः ।
तदेव रुचिवैचित्र्या, न्नानात्वं समुपागतम् ॥"

पद्येनामुनैव-"रुचयो विचित्राः"-अथवा—"भिन्नरुचि र्हि लोक"—इत्यादिरूपा लोकोक्तिः प्रसिद्धेति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

वेदत्रयी प्रकृतिपूरुषवादि साङ्ख्यं,योगः पतञ्जलिमुने रथ वैष्णवं वा॥
ख्यातं महापशुपते र्मत मत्र लोके, भिन्नं वदन्ति सुखदं निजमार्ग मेव ॥
प्रभो ! रुचीनां हि विचित्रतावशा, दनेकवक्रर्जुपथप्रचारिणाम्
नृणां त्वमेको गमनीय ईश्वरो, । यथा ऽम्भसा मर्णव एति गम्यताम्॥७॥

भाषा टीका

अब नास्तिकादिकोंके मतोंका यथार्थ रीति से खण्डन करके ईश्वरकी सत्ताको भलीभांतिसे सिद्ध करदेने पर ईश्वरवादी आस्तिकोंके अवांतर मतोंका मंडन करके ऐक्य दिखाते हैं— (त्रयी) ऋग्वेद, यजुर्वेद, एवं सामवेद-इन तीनों वेदोंका कहा हुआ श्रौत मत, (साङ्ख्य) कपिलमुनिका कथित प्रकृति पुरुषवादी सांख्य शास्त्र का मत, (योगः) पतंजलि मुनिका भाषित योग शास्त्रका मत, (पशुपतिमतं) शैवागम-इत्यादिमें अभिहित पाशुपत मत, एवं (वैष्णवं) नारदपंचरात्रादि ग्रंथोंमें उक्त वैष्णव मत (इति) इस प्रकारसे (प्रस्थाने) गमनयोग्य मार्गके (प्रभिन्ने) बहुत विधोंके होनेपर, अपने अपने मतके अनुसार लोग यह कहते हैं कि (इदं परं) यही मेरा कहा हुआ मत सबसे उत्तम है (अदः पथ्यं) यही सेवन करनेके योग्य है, अथवा मार्गके उपयुक्त है (इति च) इस रीतिसे (रुचीनां वैचित्र्यात्) अपनी अपनी रुचियोंकी विचित्रतासे (ऋजुकुटिलनानापथजुषां) सीधे और टेढे अनेकविधके मार्गको धरकर चलने वाले (नृणां) मनुष्योंके किम्बा

देहधारियोंके (पयसां अर्णव इव) सीधे टेढे मार्गगामी-जनोंके [गमनीय] समुद्रके समान (त्वं एकः गम्यः असि) आप अकेले पहुँच नेकेस्थान हैं-अर्थात् जैसे सीधे अथवा टेढे वहनेवाले सबी जल समुद्रमें पहुँचते हैं, वैसेही इन सब श्रौत सांख्य योगादिक मतोंके प्राप्य स्थान एक मात्र आपही हैं जैसा कि कहा है—
"आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्"
अथवा—"सबकर मत खगनायक एहा।
भजिय राम पद करि दृढ नेहा॥ (तु० रा०)"

मधुसूदनी टीकामें इस श्लोक पर बहुत बिस्तार किया गया है—वेही बातें संक्षिप्त रूपसे उद्धृत करदी जाती हैं।

"त्रयी—शब्दसे तीनों वेद और उनसे उपलक्षित अठारह विद्याओंकोभी समझना चाहिए-उसमें-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद ४ वेद हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छंद ज्योतिष ६ वेदांगहैं। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र ४ उपांग हैं। इनमें उपपुराणोंको भी पुराणों हीके अन्तर्गत समझना चाहिए-तथा च वैशेषिक शास्त्र न्यायमें, वेदांतशास्त्र मीमांसामें, महाभारत, रामायण, सांख्य, योग, शैव, वैष्णवा-दिकोंको धर्मशास्त्रों ही में मिलादेनेसे १४ विद्यायें होती हैं-इनके अतिरिक्त चार उपवेद हैं-आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थ शास्त्र-इन सबके जोडदेनेसे १८ विद्यायें होती हैं-समस्त आस्तिकोंके इतने ही शास्त्र मार्ग हैं और भी जो एकदेशीयमत हैं वे सबभी इही के अन्तर्गत हैं। यहांपर यह शंका है कि-माध्यमिक १ योगाचार २ सौत्रान्तिक ३ वैभाषिक ४ चार्वाक ५ दिगम्बर ६ ये छ जो नास्तिकोंके मत भेद हैं इनका भी क्यों नहीं उल्लेख करादिया-? तो इसका समाधान यह है कि-वैदिक मतके विरुद्ध होनेसे म्लेच्छादिकोंके मतानुसार ये सब चारों पुरुषार्थोंके उपयोगी नहीं हैं-इस कारणसे इनको छोड देनाही उचित है। अव संक्षेपसे पूर्वोक्त प्रस्थानोंका थोडासा विवरण भी लिख दियाजाता है। धर्म ब्रह्म प्रतिपादक अपौरुषेय प्रमाण वाक्य वेद है उसमें मन्त्र और ब्राह्मणभाग दो भेद हैं। उनमें उक्त-तीनोंही वेदोंमें विथरे रहनेसे मन्त्रके तीन भेद होते हैं। और ब्राह्मणके भी तीन भेद हैं, अर्थात विधिरूप, अर्थवादरूप एवं उभय

विलक्षण। उसमें उत्पत्ति अधिकार विनियोग, और प्रयोग-के भेदसे विधि चारप्रकारके हैं। इनमें प्रयोगके भी दो भेद हैं यथा, गुणकर्म और अर्थकर्म उनमें गुणकर्म-उत्पत्ति, आप्ति, विकृति, और संस्कृति के भेदसे चार प्रकारका होता है। योंही अर्थकर्म भी दो प्रकारके हैं, एकतो अङ्ग, और दूसरा प्रधान, उसमें अङ्ग भी दो प्रकारके हैं, यथा संनिपत्योपकारक तथा आराडुपकारक इस भांतिसे विधिभागका निरूपण है। अब अर्थवादका भेद कहते हैं-वह तीन प्रकारका है अर्थात् गुणवाद अनुवाद और भूतार्थवाद। इस रीतिसे विधि और अर्थवाद दोनोंहीसे विलक्षण होनेसे उभय विलक्षण वेदांतवाक्य है-इस प्रकारसे त्रिविध ब्राह्मण भी निरूपित हुआ। इनसब प्रकारोंसे कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्डात्मक वेद ही धर्म अर्थ काम और मोक्षका कारण है वह यज्ञादिकके निर्वाहार्थ ही ऋग्, यजुः और सामके भेदसे भिन्न है, अर्थात् हौत्रप्रयोग ऋग्वेदसे, आध्वर्यव प्रयोग यजुर्वेदसे और औद्गात्रप्रयोग सामवेदसे होता है। ब्राह्म और यजमान प्रयोग भी इसीके अन्तर्गत है। अथर्व वेद यद्यपि यज्ञके उपयुक्त नहीं है, तथापि शांतिक, पौष्टिक, आभिचारिक, इत्यादि कर्मोंके प्रतिपादक होनेसे बडा ही विलक्षण है। इस भांतिसे प्रवचनके भेदसे प्रतिवेदोंमें भिन्न भिन्न बहुतेरी शाखायें हैं। यद्यपि कर्मकांडमें व्यापारभेद होना सिद्ध है तथापि समस्त शाखाओंका एकरूपत्वही ब्रह्मकाण्ड है-इस प्रकारसे चारोंही वेदोंका प्रयोजनभेदसे भेद कहागया। अब अङ्गोंको कहते हैं। शिक्षाका उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादिसे युक्त स्वर-और व्यंजनात्मक वर्णोंके उच्चारण विशेषका ज्ञान ही प्रयोजन है। क्योंकि इन सबके यथार्थ ज्ञान नहीं होनेसे मंत्रोंका अनर्थही फल होता है, जैसा कि कहा है-

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न त मर्थ माह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो ऽपराधात्॥"

अर्थात् स्वरसेहीन अथवा वर्णसे हीन किं वा अशुद्ध प्रयोग किया गया मंत्र कदापि यथार्थ नहीं हो सकता-क्योंकि वह वचनरूपी वज्र होकर यजमानहीको नाश करडालता है जैसे इन्द्रशत्रु (वृत्रासुर) स्वरहीके अपराध से स्वयं नष्ट होगया-यह शिक्षा मुनि·

वरपाणिनि हीने प्रकाशित की है जोकि आजकल प्रचलित है-इसी प्रकारसे प्रत्येक वेदोंकी शाखाओं पर भिन्न भिन्न रूपके प्रातिशाख्य नामकी शिक्षायें अनेक मुनियों की बनाई हुई हैं। योंही वेद के पदोंकी शुद्धता को जानलेनेके लिये व्याकरण शास्त्रका प्रयोजन है। जिसे भगवान् महेश्वरके प्रसादसे उन्ही महर्षि पाणिनिने आठ अध्यायोंका सूत्रपाठ बनाया है जो अष्टाध्यायीके नाम से प्रसिद्ध है, उसीपर कात्यायन मुनि (वररुचि-जो पुष्पदन्तके अवतार माने जाते हैं उन्हो) ने वार्तिक निर्माणकिया है उनपर ऋषिप्रवर पतंजलिने महाभाष्यकी रचना की है-इन्ही तीनों मुनियों (मुनित्रय) के बनाये हुए व्याकरणको वेदाङ्ग अथवा माहेश्वरव्याकरणकहाजाता है इससे भिन्न जो दूसरे कौमारादिव्याकरण हैं वे वेदाङ्ग नहीं हैं किन्तु केवल लौकिक प्रयोगोंही के ज्ञानार्थ हैं-यह समझलेना चाहिए इस प्रकारसे शिक्षा और व्याकरणसे अक्षरोंका उच्चारण एवं पदोंकी शुद्धताका ज्ञान होजाने पर वेदके मन्त्रपदोंका अर्थ जाननेके लिये यास्कमुनिने तेरह अध्यायों में निरुक्तकी रचना की है। जिसमें पद समूहों को नाम, आख्यात, निपात और उपसर्गके भेदसे चार प्रकारका निरूपण करके वैदिक मन्त्रपदों का अर्थ दिखलाया है। क्यों कि जवलो मन्त्रके पदोंका अर्थज्ञान नहीं हो लेवे तवलों उसका अनुष्ठान करनाही सर्वथा असम्भव है, जैसे "सृण्येवजर्भरी तुर्फरी तून-" इत्यादि पदोंका अर्थ समझलेना किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है-अत एव वैदिक मन्त्रपदोंके अर्थज्ञानके लिये निरुक्त परमावश्यक है। योंही वेदोंके कथित द्रव्य-देवतात्मक पदार्थोंके पर्याय शब्द रूप निघंटु इत्यादिकभी निरुक्तहीके अन्तर्भूत हैं। उसमें भी निघंटु नामक पांच अध्यायोंका ग्रंथ पूर्वोक्त यास्कमुनिहीका प्रणीत है-और इसके अतिरिक्त अमरसिंह अथवा हेमचन्द्र इत्यादिके बनाये हुए कोष भी निघंटुके समरूपहोनेसे निरुक्तहीके अन्तर्गत है। एवं च-ऋग्वेदके मन्त्र पादबद्ध छन्दोविशेषसे युक्त हैं और किसी किसी अनुष्ठानमें छन्दोविशेषहीका विधान किया गया है-अत एव छन्दोंका जाननाभी आवश्यक हुआ, क्योंकि बिना उसके ज्ञानके कार्यकी हानि और निन्दा होती है। इसी लिये भगवान् पिंगलनागने आठ अध्यायोंमें सूत्रपाठ बनाया है, जो पिं-

गलसूत्रके नामसे प्रसिद्ध है-उसके तीन अध्यायों में गायत्री, उ-ष्णिक्, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती इन सातों वैदिक छन्दोंको अवातंर भेदोंके साथ सविस्तर वर्णन किया है, फिर पांच अध्यायोंमें पुराण-इतिहासादिकके उपयोगी लौकिक छन्दोंका वर्णन किया है । इस रीतिसे वैदिक कर्मोंके अंग दर्श [पौर्णमासी]-इत्यादि काल जाननेके लिये ज्योतिषभी आवश्यकहै-जिसे भगवान् सूर्यनारायणने तथा गर्गादिक [१८] महर्षियोंने वहुत प्रकारसे विरचाहै । योंही भिन्न भिन्न शाखाके मन्त्रोंको मिलाकर वैदिक अनुष्ठानोंके विशेष कर्मोंको समझनेके लिए कल्पसूत्र घने हैं । वे सब प्रयोगों के तीन भेद होनेसे तीन प्रकारके हैं-जिनमें हौत्र-प्रयोगोंके लिए आश्वलायन, सांख्यायन-इत्यादि महार्षियोंके निर्मित्त बौधायन, आपस्तम्ब, और कात्यायन-(*)इत्यादिके निर्मित हैं-एवं औद्गात्र-प्रयोगार्थ लाट्यायन, द्राह्यायण आदिके विरचित सूत्र हैं । इस प्रकारसे छवों अंगोंका प्रयोजन तथा भेद निरुपण कियागया ।

अब चारों उपांगोकाभी प्रयोजन और भेद कहा जाता है । भगवान् कृष्णद्वैपायनने अष्टादश पुराणोंको बनाया है जो सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर, और वंशानुचरितोंको प्रकट करते हैं-उनके नाम इसश्लोकसे जानने चाहिये ।

"म द्वयं भ-द्वयं शै वं, व-त्रयं ब्र-त्रयं तथा ।
अ ना-प-लिङ्गकू-स्कानि, पुराणानि पृथक् पृथक् ॥"

१ मत्स्य पुराण ।	१० ब्रह्माण्ड पुराण ।
२ मार्कण्डेय-पुराण ।	११ ब्रह्मवैवर्त पुराण ।
३ भागवत पुराण ।	१२ अग्नि पुराण ।
४ भविष्य पुराण ।	१३ नारद पुराण ।
५ शिवपुराण ।	१४ पद्म पुराण ।
६ विष्णु पुराण ।	१५ लिंग पुराण ।
७ वाराह पुराण ।	१६ गरुड पुराण
८ वामन पुराण ।	१७ कूर्म पुराण ।
९ ब्रह्म पुराण ।	१८ स्कन्द पुराण ।

(*) यह कौन कात्यायन है ? वररुचिही अथवा दूसरे कोई—

योंही प्रायः अठारह उपपुराणभी हैं-जिनमें देवीभागवत, कालिका पुराण, वायु पुराण, कल्कि पुराण, और साम्बपुराण-इत्यादि हैं । न्याय आन्वीक्षिकी पंचाध्यायी गौतममुनिने बनाया है-जिसका प्रमाण १ प्रमेय २ संशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टान्त ५ सिद्धान्त ६ अवयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितंडा १२ हेत्वाभास १३ छल १४ जाति १५ और निग्रहस्थान १६ नामक सोलहो पदार्थोंके उद्देश लक्षण एवं परीक्षासे तत्वज्ञानका होनाही प्रयोजन है । योंही दश अध्यायोंके वैशेषिक शास्त्रको कणादऋषिने निर्माण किया है-जिसका द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ विशेष ५ समवाय ६ ये छ भाव पदार्थ और सातवें अभाव ७ के साधर्म्य-वैधर्म्यसे व्युत्पत्ति करनाही प्रयोजन है । यहभी न्यायही है । इसी भांति मीमांसाभी दो प्रकारकी हैं-एक तो कर्ममीमांसा और दूसरी शारीरकमीमांसा । उसमें भगवान् जैमिनिमुनिने बारह अध्यायकी कर्ममीमांसा बनायी है-जिसमें धर्मप्रमाण १ धर्मके भेद और अभेद २ शेषशेषिभाव ३ यज्ञके लिये पुरुषार्थ भेदसे प्रयोग विशेष ४ वेदार्थ-पाठनादि क्रमभेद ५ अधिकार विशेष ६ सामान्यातिदेश ७ विशेषातिदेश ८ ऊह ९ बाध १० तंत्र ११ और प्रसंग १२-येही बारहो अध्यायोंके प्रधान अर्थ हैं । तथाच संकर्षणकाण्डभी चार अध्यायोंमें जैमिनिमुनिहीने निर्माण किया है। वह यद्यपि देवताकाण्डके नामसे प्रसिद्ध है पर उपासना नामक कर्मके प्रतिपादन करनेसे कर्ममीमांसाहीके अन्तर्गत है । एवं च चारही अध्यायोंकी शारीरकमीमांसा भगवान् बादरायण [वेदव्यास] की बनाई हुई है-जो कि जीव और ब्रह्मके एकत्व साक्षात्कारके हेतु श्रवणाख्य विचारके प्रतिपादक न्यायोको दिखलाती है । उसके पहिले अध्यायमें समस्त वेदान्तके वाक्योंका साक्षात् वा परंपराद्वारा प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य्य लगाया है। योंहीं दूसरे अध्यायमें वेदान्त वाक्योंके अद्वितीय ब्रह्ममें सिद्धहोजाने पर सम्भावित स्मृति और तर्कादिकोंके विरोधकी शंका उठाकर उसका परिहार देकरके अविरोधको दिखाया है। फिर तीसरे अध्यायमें साधननिरूपण किया है । एवं चौथे अध्यायमें सगुण और निर्गुण विद्याओंके फलविशेषका निर्णयकिया गया है।

यही सब शास्त्रोंका मस्तक है और दूसरे शास्त्र इसीके शेषभूत [बँचे धुँचे] हैं-यही शास्त्र भगवान् शंकराचार्य्यके भाष्यानुसार समस्तमोक्षाभिलाषी लोगोंको आदरणीय है ॥ इसी प्रकारसे धर्मशास्त्रोंको भी-मनु १ याज्ञवल्क्य २ विष्णु ३ यम ४ अंगिरा ५ वसिष्ठ ६ दक्ष ७ संवर्त ८ शातातप ९ पराशर १० गौतम ११ शंख १२ लिखित १३ हारीत १४ आपस्तम्ब १५ उशना १६ व्यास १७ कात्यायन १८ बृहस्पति १९ देवल २० नारद २१ पैठीनसि २२ इत्यादि महर्षियोने बनाये हैं-जो उन उनलोगोंकी स्मृतियां कही जाती है । इन सबोंमें बर्णाश्रमके धर्मविशेषोंका विभाग विस्तारपूर्वक कहागया हैं । योंही व्यास-रचित महाभारत तथा महर्षि बाल्मीकिकृतरामायण यद्यपि इतिहासके नामसे प्रसिद्ध है पर वास्तवमें धर्मशास्त्रोंहीके अन्तर्गत है । सांख्यादिकभी धर्मशास्त्रोंहीमें परिगणित हैं परन्तु यहां पर उनका स्वयं निर्देश किया है अतएव वे सब पृथकही रक्खे जाते हैं ।

अब चारोंही वेदोंके चार उपवेदोंकाभी यथाक्रम प्रयोजन भेद दिखाया जाता है-उसमें ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, साम वेदका गान्धर्ववेद, और अथर्ववेदका अर्थशास्त्र उपवेद है । जिसमें आयुर्वेदके आठ भेद हैं अर्थात् सूत्र १ शारीर २ ऐन्द्रिय ३ चिकित्सा ४ निदान ५ विमान ६ कल्प ७ और सिद्धि ८ जिसके ब्रह्मा १ प्रजापति २ अत्रि ३ धन्वन्तरि ४ इन्द्र ५ भरद्वाज ६ दत्तात्रेय ७ और अग्निवेश्य ८ इत्यादि कर्ता हैं-इही लोगोंके उपदेशानुसार चरकमुनिने उसे संक्षिप्त किया है-योंही सुश्रुत नेभी पांच स्थानों (भेदों) का दूसरा प्रस्थान रचा है-और वाग्भट्ट प्रभृतिनेभी बहुत कुछ लिखा है, पर वह सब एकही विषय है इस लिये शास्त्रमें कोई भेद नहीं हैं । कामशास्त्र भी आयुर्वेदहीके अन्तर्गत है, क्योंकि सुश्रुतने वाजीकरण नामक कामशास्त्रको लिखा है उसपर वात्स्यायन मुनिने पांच अध्यायों में काम शास्त्र*

*कामसूत्रमें सात अधिकरण है-यथा-साधारण १ साम्प्रयोगिक २ कन्यासंप्रयुक्तक भार्य्याधिकारिक ४ पारदारिक ५ वैशिक ६ और औपार्निषदिक ७ इनमें सब मिलाकर ३६ अध्याय हैं जिस पर यशोधरकी जयमङ्गला नामकी टीका है-५ अध्यायोंका कामशास्त्र कौन हैं ? ढंढना चाहिए ।

बनाया है-उसका प्रयोजन केवल विषयोंसे वैराग्य होनाही है क्योंकि शास्त्रोद्दीपित मार्गसे भी विषयोंके भोगमें केवल दुःखही अन्तमें प्राप्त होता है। वैद्यकशास्त्रका प्रयोजन रोगोंकी उत्पत्ति इत्यादि तथा रोगोंके दूरकरनेवाले उपाय आदिका ज्ञान होनाही मुख्य है। अथ च पादचतुष्टयात्मक धनुर्वेदको विश्वामित्रजीने बनाया है-उनमें पहिला दीक्षापाद है। दूसरा संग्रहपाद, तीसरा सिद्धिपाद, और चौथा प्रयोगपाद है। इसके प्रथम पादमें धनुषका लक्षण और अधिकारियोंका निरूपण किया गया है-धनुःशब्द यद्यपि धनुषहीके लिये रूढ (प्रचलित) है, पर चारोंही प्रकारके आयुधोंका सूचक है। वे चारों प्रकार ये हैं-मुक्त (चलायागया) अमुक्त (हाथमें लिए हुए चलाया गया) मुक्तामुक्त (जिसे कभी हाथमें रखकर चलाना पडे कभी फेंककर चलाना पडे) और यंत्रमुक्त (जो दूसरेके सहारेसे चलायाजावे);-जैसे मुक्त चक्र अथवा चक्का इत्यादि, अमुक्त खड्ग तरवार गदा इत्यादि, मुक्तामुक्त भाला वा बरछी त्रिशूल प्रभृति, और यंत्रमुक्त बाण किं वा गोली इत्यादिक। इसमें मुक्तको अस्त्र और अमुक्तको शस्त्र कहा जाता है। वे अस्त्र भी ब्राह्म वैष्णव पाशुपत प्राजापत्य आग्नेय इत्यादिभेदोंसे बहुत प्रकारके हैं। इस रीतिसे देवाधिष्ठित मंत्रोंके सहित चारोंही प्रकारके आयुधोंमें जिन क्षत्रिय कुमारोंका अधिकार है, वे सबभी पदाति (पैदल) रथी, गजारोही और अश्वारोही (असवार) के भेद से चार प्रकारके होते हैं-एवं दीक्षा अभिषेक सकुन और मङ्गलकरण-इत्यादि सब कुछ प्रथम पादमें निरूपित है। समस्त शस्त्र विशेषोंका तथा आचार्य्यका लक्षण पूर्वक ग्रहण करनेकी विधि दूसरे पादमें कही गई है। गुरुसंप्रदायके अनुसार सिद्ध शस्त्र विशेषोंका वारंवार अभ्यास और मंत्रके देवताका सिद्धकरना तीसरे पादमें कथित है। फिर देवताओं की पूजा और अभ्यासादिकसे सिद्धहुए अस्त्र विशेषोंका प्रयोगकरना चतुर्थपादमें वर्णित है। क्षत्रियोंका निजधर्माचरण संग्राम करना तथा दुष्ट डांकू (लुटेरे) चोर इत्यादिसे प्रजावर्गका पालनकरनाही धनुर्वेदका प्रयोजन है। इसभांति ब्राह्मप्राजापत्यादि क्रमसे विश्वामित्रका रचित धनुर्वेद-शास्त्र है।

गान्धर्ववेद-शास्त्र भरतमुनिने निर्माण किया है, जिसमें नाचना गाना और बजानाके भेदसे बहुत प्रकारका प्रपंच है। देवताकी आराधना, और निर्विकल्पक समाधि (चित्तकी एकतानता) आदिकी सिद्धिही गांधर्ववेदका प्रयोजन है।

और अर्थ शास्त्रभी बहुत प्रकारका है-जैसे नीतिशास्त्र, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र, और चतुःषष्टि-कलाशास्त्र। वे चौसठों कलायें शैवागममें यों कही गई हैं।

१ गीत,	२४ चित्रशाकापूपविकारक्रिया,
२ वाद्य,	२५ पानकरसरागासवयोजन,
३ नृत्य,	२६ सूचीवापकर्म,
४ नाट्य,	२७ सूत्रक्रीडा,
५ आलेख्य,	२८ वीणाडमरुकवाद्य,
६ विशेषकच्छेद्य,	२९ प्रहेलिकाप्रतिमाला,
७ तंडुलकुसुमवलि विकार,	३० दुर्वचकयोग,
८ पुष्पास्तरण,	३१ पुस्तकवाचन,
९ दशनवसनाङ्गराग,	३२ नाटिकाख्यायिका दर्शन,
१० मणिभूमिकाकर्म,	३३ काव्यसमस्यापूरण,
११ शयनरचना,	३४ पट्टिकावेत्र वाणविकल्प,
१२ उदक वाद्य,	३५ तर्ककर्म,
१३ उदकघात,	३६ तक्षण,
१४ अद्भुत दर्शन वेदिता,	३७ वास्तुविद्या,
१५ मालाग्रथनकल्प,	३८ रूप्यरत्नपरीक्षा,
१६ शेखरापीडयोजन,	३९ धातुवाद,
१७ नेपथ्ययोग,	४० मणिरागज्ञान
१८ कर्णपत्रभङ्ग,	४१ आकरज्ञान,
१९ गन्धयुक्ति,	४२ वृक्षायुर्वेद,
२० भूषणयोजन,	४३ मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि,
२१ इन्द्रजाल	
२२ कौचुमारयोग,	४४ शुकसारिका-प्रलापन,
२३ हस्तलाघव,	

४५ उत्सादन
४६ केशमार्जनकौशल,
४७ अक्षरमुष्टिकाकथन,
४८ म्लेच्छितकविकल्प,
४९ देशभाषाज्ञान,
५० पुष्पकशाटिकानिमित्तज्ञान,
५१ यंत्रमातृका,
५२ धारणमातृका,
५३ असंवाच्यसंपाठ्य–;
मानसीकाव्यक्रिया,
५४ छलितकयोग
५५ अभिधानकोशच्छन्दोज्ञान,
५६ क्रियाविकल्प,
५७ ललितविकल्प,
५८ वस्त्रगोपन,
५९ द्यूतविशेष,
६० आकर्षक्रीडा,
६१ बालक्रीडनक,
६२ वैनायिकीविद्याज्ञान,
६३ वैजयिकाविद्याज्ञान,
६४ वैतालिकीविद्याज्ञान,

येही चौंसठों कलायें हैं ।

उपर्य्युक्त समस्त विषयोंको अनेक मुनियोंने बनाये हैं, उन सबोंका लौकिक और अलौकिक उनके उनके प्रयोजनोंका भेद समझना चाहिए ।

इस प्रकारसे अठारहों विद्यायें त्रयीशब्दके द्वारा कही गईं ।

अब सांख्य शास्त्रका निरूपण कियाजाता है जिसे भगवान कपिल देवजीने निर्माण किया है जैसा कि तुलसीकृत रामायण में कहा है—

"देवहुती पुनि तासु कुमारी
जो मुनि कर्दमकी प्रिय नारी ।
आदिदेव प्रभु दीन दयाला,
जठर धरेहु जेहि कपिल कृपाला ।
सांख्य शास्त्र जिन प्रकट बखाना,
तत्त्व विचार निपुन भगवाना" ॥ इति ॥

जिसमें त्रिविध दुःखोंकी अतिशय निवृत्तिही परम पुरुषार्थ है-यह छ अध्यायोमें यों कहा गया है-यथा, प्रथम अध्यायमें विषयोंका निरूपण किया है । दूसरे में प्रधानकार्योंको कहा है। तीसरेमें विषय वैराग्य है। चौथेमें पिंगल कुमारादिक विरक्तोंकी आख्यायिका है । पांचवेंमें परपक्षका निर्जय है। और छठे अध्याय में समस्त अर्थोंका संक्षेप है [सत्तर आर्य्याछंदकी कारिकाओंमें सांख्यतत्त्व कौमुदी नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है जिस पर गौडपादा-

चार्यका भाष्य अथवा वाचस्पति मिश्रकी वृत्ति पठन पाठनमें प्रचलित है] प्रकृति-पुरुषका ज्ञानही सांख्य शास्त्रका मुख्य प्रयोजन है ।

योगशास्त्र भगवान् पतंजलिका बनाया हुआ है [जो योगसूत्रके नामसे प्रसिद्ध है] जिसमें चार पाद हैं । प्रथम पादमें चित्तवृत्तिका रोकना और समाधि एवं वैराग्यका रूप तथा उनके साधनोंको निरूपण किया है । दूसरे पादमें विक्षिप्तचित्तवालेकी समाधि की सिद्धिके लिये-यम, १ नियम, २ आसन, ३ प्राणायाम, ४ प्रत्याहार, ५ धारणा, ६ ध्यान. ७ और समाधि, ८ नामक योगके आठों अंगोंको निरूपित किया है । तीसरे पादमें योगकी विभूतियोंका वर्णन है । चौथे पादमें कैवल्य-निरूपण है-इस शास्त्रका विजातीय प्रत्ययोंके निरोधद्वारा निदिध्यासनकी सिद्धिही प्रयोजन है । [योगसूत्र पर महाराज भोज-देवकी बनाई हुई वृत्ति है]॥ योंही पशुपतिमत अर्थात् पाशुपत शास्त्र है जिसे स्वयं भगवान पशुपतिहीने पशुपाशको छुडानेके लिए पांच अध्यायोंमें रचा है। जिसके पांचोंही अध्यायोंमें कार्यरूप-जीवही पशु, कारण-पशुपति ईश्वर, उसी पशुपतिमें चित्तका समाधान करना-योग, एवं भस्मसे त्रिकाल स्नानादि कर्मोंका करनाही-विधि है । येही कार्य-कारण-योग-और विधि दुःखान्त कहे जाते हैं-इसी दुःखान्त-संज्ञक मोक्षकी सिद्धि इस शास्त्रका प्रयोजन है । इसी रीतिसे शैव-मन्त्रशास्त्रभी पाशुपतशास्त्रके अन्तर्गत है ।

[उक्त पाशुपत शास्त्रका वर्णन शिवपुराणकी वायुसंहिताके पूर्वभागमें उनतीसवें अध्यायमें भी पाया जाता है] ॥

इसीभांति वैष्णवशास्त्र नारदादिमहर्षियोंका बनाया हुआ है, जो नारदपंचरात्र कहलाता हैं । जिसमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध, यही चारों पदार्थ निरूपित हैं । अर्थात् भगवान् वासुदेव परमेश्वरही सबके कारण हैं-उन्हीसे संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है-उसीसे उत्पन्न हुआ प्रद्युम्न मन है-फिर उससे अनिरुद्ध संज्ञक अहङ्कार उत्पन्न होता है । ये सब भगवान् वासुदेवहीके अंशभूत होनेसे उनसे भिन्न नहीं हैं अतः उसी वासुदेवकी मन-वचन और कायसे आराधना करके मनुष्य कृतकृत्य होता

है -येही सब बातें निरूपण की गई हैं। वैष्णवमंत्रशास्त्रभी पंच- रात्रहीमें अन्तर्भूत है [वैष्णव मतका विशेष वर्णन-पद्मपुराण-ब्र- ह्मवैवर्तपुराणके कृष्णजन्मखण्ड, विष्णुपुराण और भागवतादिकों में भी मिलता है-तथा च इस विषयमें हरिभक्तिविलास नामक ग्रंथ अवश्य द्रष्टव्य है] ॥

इस प्रकारसे समस्त प्रस्थान भेद दिखला दिया गया। इन सबोंके मतानुसार संक्षेपसे तीनही प्रस्थान भेद सिद्ध होते हैं, अर्थात् आरंभवाद, परिणामवाद, और विवर्तवाद। पृथिवी, जल, तेज, और वायु,-इन्ही चारोंके परमाणु द्व्यणुक इत्यादिके क्रमसे ब्रह्मांडपर्यन्त जगतको बनाते हैं। कार्य-कारणके व्यापारसे असत [झूठा] ही उत्पन्न होता है, यह पहिला आरंभवाद तर्कशास्त्रमता- वलम्बी तथा मीमांसक लोगोंका है। सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक प्रधानही महत्-अहंकारादिकके क्रमसे जगतका आकार बनजाता है-पूर्वभी सूक्ष्मरूप कारण व्यापारसे सत् [सत्य] ही कार्य अभिव्यक्त होता है-यह दूसरा पक्ष परिणामवाद सांख्य-योग और पाशुपतमत वालोंका है- ब्रह्महीका परिणाम जगत है यही वैष्णव लोगोंकाभी मत है। स्वप्रकाश परमानन्दअद्वितीय ब्रह्म अपनी मायाके वस मिथ्याकी भांति जगतके आकारमें कल्पित हो जाता है-यह तीसरा पक्ष विवर्तवाद ब्रह्मवादी लोगोंका है। सभी प्रस्थान बनाने वाले मुनिलोगोंका विवर्तवादके अन्तमें वेदान्तप्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्महीमें तात्पर्य्य है। [यहां पर यह शंका होती है कि तो फिर इतने प्रस्थान (मतभेद) क्यों किये गये-उसका समाधान यह है कि-] वे मुनिलोग भ्रांत नहीं थे सब कुछ जानतेथे, किंतु बाहरी विषयोंमें आसक्त होनेसे लोगोंका यथार्थ प्रवेश परमपुरुषार्थमें नहीं हो सकता अत एव नास्तिकताके दूरकरनेकी इच्छासे उन महानुभावोंने ये सब प्रकारभेद दिखलाये हैं। इसी कारणसे उन लोगोंके ठीक ठीक तात्पर्यको विना समझेही जो लोग वेदसे विरुद्ध अर्थमें भी उनके तात्पर्यकी उत्प्रेक्षा करके उनके मतको उपादेय समझकर ग्रहण करलेते हैं वे ही-ऋजुकुटि- लनानापथगामी (धारी) होते हैं-इसीसे सभी लोगोंका सीधे मार्गमें प्रवेश नहीं होता-और इसी विपर्ययमें परमेश्वरकीभी

प्राप्ति नहीं हो सकती—हां अन्तःकरणके शुद्ध होजाने पर पीछे से ऋजुमार्गका आश्रयण करनेहीसे सिद्धि लाभ होता है। यह समस्त शास्त्रोंका निचोड है ॥ ७ ॥

भाषापद्यानुवादः

वैदिक सांख्य रु जोग मत, वैष्णव पाशुपतादि ।
कहत एकते भिन्न पथ, यह उत्तम हितवादि ॥
सूधे टेढे मार्ग चालि, रुचि विचित्रता पाय ।
जल अस बहतो जाय नर, तुम सम सिंधु समाय ॥ ७ ॥

भाषाबिम्बम्

गुनै कोऊ वेदै हरि हर मती सांख्य—मतको,
कहै योगाभ्यासी सुगम पथ येही सबहिमें ।
रुचा नानाभांती ऋजु कुटिल मार्गै धरि (बहि) चली,
नरोंके नारोंके जलधि—सम हौ गम्य तुमहीं ॥ ७ ॥

महोक्षः खट्वाङ्गं परशु रजिनं भस्म भणिनः
कपालं चे तीय त्तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।
सुरा स्तां ता मृद्धिं दधति तु (१)भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥८॥

मधुसूदनी टीका

एवं सर्वशङ्कोद्धारेण हरिहरस्वरूपं निरूप्य तदेवार्वाचीनपदस्थं स्तौति—

महोक्ष इति । हे वरद, तव परिपूर्णपरमेश्वरस्याप्येतत्तन्त्रोपकरणं तन्त्रस्य कुटुम्बधारणस्योपकरणं साधनम् । तदेवाह । महोक्षः महानुक्षा वृद्धवृषभः, खट्वाङ्गं खट्वाया अवयवः शस्त्रविशेषः कापालिकानां प्रसिद्धः, परशुः टङ्कः कुठारो वा, अजिनं चर्म, भस्म

---

(१) विदधति चेति पाठः ।

8726

पांशुः, फणिनः सर्पाः, कपालं मनुष्यशिरोऽस्थि चेति सप्तकम्। नन्वेवं दरिद्रस्तुष्टोऽपि किं दास्यतीत्यत आह—सुरा इत्यादि। सुरास्तु भवत्सेवया भवद्भ्रूप्रणिहितां भवतो भ्रूविक्षेपमात्रेण समर्पितां तां तामसाधारणीमृद्धिं संपत्तिं दधति धारयन्ति। त्वमतिदरिद्रस्त्वद्भक्तास्तु सर्वे सुरास्त्वत्प्रसादात्समृद्धा इति व्यतिरेकं तुशब्द आह। यो ह्यन्यान्धनवतः करोति स तदपेक्षयाधिकधनवान्भवतीति प्रसिद्धं लोके। ननु तर्हीदृशोऽपि स्वयं कथं महोक्षादिमात्रपरिवार इत्यत आह—नहीत्यादि। हि यस्मात्त्व आत्मनि स्वरूपे चिदानन्दघने आरमत्याक्रीडत इति तथा तं न भ्रमयति न मोहयति। विषयमृगतृष्णा विषया इन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्त एव मृगतृष्णा जलबुद्ध्या गृह्यमाणा मरीचिका। यथा मृगतृष्णा रविरश्मिरूपा जलविरुद्धस्वभावापि भ्रान्त्या जलमयीवाभासते तथा विषया अपि दुःखरूपा भ्रान्त्या सुखरूपा आभासन्त इति रूपकार्थः। यत्र जीवोऽपि स्वात्मारामतां प्राप्तो न विषयासक्तो भवति, तत्र किमु वक्तव्यं नित्यमुक्तः परमेश्वरो विषयैर्नाभिभूयत इत्यभिप्रायः। तेन वृषभारूढा खट्वाङ्गपरशुफणिकपालालंकृतचतुर्भुजा चर्मवसना भस्माङ्गरागा विविधभूषणा माहेश्वरी मूर्तिर्गुरूपदेशेन ज्ञाता स्तुत्यादिभिराराध्येत्यर्थः। वस्तुतस्तु पुरुषप्रधानमहदहंकारतन्मात्रेन्द्रियभूतानि महोक्षादिरूपेण गुप्तानि भगवन्तं महेश्वरमुपासत इत्यागमप्रसिद्धम्। तस्य जगत्कुटुम्बस्य तत्त्वान्येवोपकारणमिति निष्कर्षः। हरिपक्षे तु महोक्षः अक्षश्चक्रं 'अक्षो रथावयवके च बिभीतके स्यादक्षाणि पण्डितजना विदुरिन्द्रियाणि' इति धरणिः महस्तेजोरूपं, भस्मफणिनः भस्मवच्छुभ्रस्य कोमलाङ्गस्य च फणिनः शेषस्याऽजिनं शरीरत्वक् खट्वा शय्या। तथा कपालं कं शिरः पाल्यतेऽनेनेति कपालं शिरउपधानं तस्यैव भस्मफणिनोऽङ्गं किंचिदुच्छ्रितावयवविशेषः। अथवा केन जलेन पाल्यत इति कपालं पद्मं शङ्खो वा तस्मिन्पक्षे भस्मफणिनोऽङ्कं अजिनं च खट्वा, अङ्कं पर्यङ्कस्थानीयं अजिनं च तदुपरि आस्तृतवस्त्रस्थानीयमिति बोद्धव्यम्। तथा परशुरिति परशुरामावताराभिप्रायेण। हे वरद. एतावत्तव तन्त्रोपकरणमित्यादिपूर्ववत्। अथवा विषयमृगतृष्णा अविद्यान्तःकरणोपरक्तं प्रति[illegible] व्यामोहयत्यपि यामं अनन्तसत्य-

ज्ञानानन्दात्मकत्वेन योगि(१)नां रतिविषयं त्वां बिम्बकल्पं मोहयति न स्वावरणांशेनाभिभवति । उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात् । कीदृशी सा । स्वात्मा स्वः सच्चिदानन्दात्मकस्त्वमेवात्मा स्वरूपं यस्याः सा, तथा त्वय्यध्यस्ता सा स्वसत्तास्फूर्तिप्रदं त्वां कथं व्यामोहयेदित्यर्थः । अत्रापि चक्रादीनां भगवद्विभूतित्वं विष्णुपुराणादौ प्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

संस्कृत टीका

(वरद !) हेवरदानोन्मुख ! (महोक्षः) महाँश्चासौ उक्षा च महोक्षः महावृषभः । "अचतुर"—५ । ४ । ७७-इत्यादिना निपातनात्साधुः । (खट्वाङ्ग) सुखं सुणपर्यायोऽस्त्रविशेषः कचिद्दण्डस्योपरिब्रह्मकपालं खट्वाङ्गमुच्यते कचित्—"खट्वाङ्गं नरपञ्जर"—मित्यप्युक्तम् । तथा (परशुः) परं शृणातीति परशुः "आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च"—१ । ३३-उणा०-इतिकुः । परश्वधापरपर्यायः प्रसिद्धोऽस्त्रविशेषः । (अजिनं) चर्म्म (भस्म) क्षारं [भस्मतत्त्वज्ञानार्थं वृहज्जावालोपनिषद् द्रष्टव्येति] (फणिनः) सर्पाः (कपालं) मुण्डं (च) इति समुच्चये (इति) एवं विधं (इयत्) एतावदेव (तव) ते (तन्त्रोपकरणं) प्रधानपरिच्छेदः, प्रपञ्चरूपेण स्थितमुपकारकमिति वा । अस्तीति शेषः । परन्तु (सुराः) देवाः इन्द्रादयः (भवद्भ्रूप्रणिहितां) भवतो भ्रूक्षेपमात्रेण प्रदत्तां (तां तां) अतिशयप्रसिद्धां (ऋद्धिं) सम्पदं (विदधति) धारयन्ति । यद्येवं तर्हि स्वयं कथन्नोपभुज्यते ?-इत्याशङ्क्याह । (हि) यस्मात् कारणात् (विषयमृगतृष्णा) भोगानां तुच्छा मृगतृष्णिकेव ईहा (स्वात्मारामं) आत्मतत्त्वज्ञं योगिनं पुरुषं (न भ्रमयति) कदापि नैवं चालयितुं शक्नोति अत्र भगवतोऽभव्यं परिच्छदं वर्णयित्वा परमसमृद्धिदातृत्वञ्च प्रदर्श्य निर्मायित्व-परमयोगित्वादिगुणगणा यथावदेव विशदीकृता इति ॥ ८ ॥

---

(१) 'योगिनामविषयं' इति पाठः ।

संस्कृतपद्यानुवादः

महोक्षखट्वाङ्गकपालसर्पा. भस्माजिनं पर्शुरियत्त्वदीयम् ।
प्रपञ्चरूपेण महोपकारि, मत प्रभो ! ते वरदाग्रगण्य ! ॥
परन्तु शक्रादय एव देवा, भ्रूक्षेपमात्रेण त्वया प्रदत्ताम् ।
समृद्धि मृद्धां शिव! धारयन्ति, न याति योगी विषयेषु तृष्णाम् ॥८॥

भाषाटीका

(वरद !) हे वरदायक ! (महोक्षः) बडा अथवा बूढा बल (खट्वाङ्गं) अस्त्रविशेष [अथवा पाटीके समान कापालिक लोगों का प्रसिद्ध। कहीं कहीं मनुष्यकी पंजडीकोभी खट्वांग कहते हैं।] (परशुः) फरसा (अजिनं) चमडा अथवा खाल (भस्म) छार, राखी (फणिनः) सांप (कपाल) मुंड, खोपडी (च) इत्यादि (इति) इस भांतिसे (इयत्) इतनीही भर (तव) आपकी (तन्त्रोपकरणं) पूंजीपसार [हैसीयत] है। परन्तु (सुराः) देवता लोग (भवद्भ्रूप्रणिहितां) आपकी भृकुटीके प्रसादकी दीहुई (तां तां) उन उन अर्थात् बडीभारी (ऋद्धि) सम्पत्तिको (विदधति) धारण करते हैं, अर्थात् भोगते हैं यदि आप ऐसे दानियां हैं तो स्वयं क्यों नहीं संपत्तियोंको भोगते ? इस शंका पर कहते हैं कि (हि) क्योंकि (स्वात्मारामं) आत्मज्ञानी योगी पुरुषको (विषयमृगतृष्णा) विषयोंकी अर्थात् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श. और शब्दरूपी मृगतृष्णा जलकी बुद्धिसे वालूपरके किरण—[अभिप्राय यह कि जलसे विरुद्ध स्वभाव होने परभी सूर्यके किरण भ्रममें पडेहुए तृषार्त मृगोंको जैसे जलमयही भासते हैं वैसेही भ्रांतिवश दुःखमय विषयभी सुख रूप जान पडते हैं] (न) नहीं (भ्रमयति) भ्रममें डाल सकती है। तात्पर्य यह है कि आपकी सवारी वैल चारों हाथोंमें खट्वाङ्ग फरसा, सर्प और कपाल, खालहीका ओढना विछौना, और अंगराग राखही भर तो है, पर आपहीकी भौंके हिलनसे ब्रह्म-विष्णु-इन्द्रादिक देवते लोगभी बडीसे बडी समृद्धियोंका भोग करते हैं,

किन्तु आप आत्मज्ञानी महापुरुष होनेके कारण उन तुच्छ विषयोंकी भोग-लालसा नहीं करते । वास्तवमें आत्मज्ञान होजाने पर साधारण जीवभी विषयासक्त नहीं होते तो फिर साक्षात् परमेश्वरको विषयोंकी मृग-तृष्णा कैसे भरमासकती ? इसके पूर्व निर्गुण ईश्वर की स्तुति होचुकी हैं इसीसे इस श्लोकमें अर्वाचीन अर्थात् सगुणरूपका वर्णन किया है । महादेवके स्वरुपका वर्णन तुलसीदासजीने भी रामायण गौरी विवाह प्रकारणमें ऐसाही किया है—

यथा—"कुण्डल कंकन पहिरे व्याला,
तनु विभूति पट केहरि छाला ।
शशि ललाट सुंदर शिर गङ्गा,-
नयन तीन उपवीत भुजङ्गा ।
गरल कंठ तर नर-शिर माला,
अशिव भेष शिव धाम कृपाला ।
कर त्रिशूल अरु डमरु विराजा,
चले वसह चढ़ि बाजहिं बाजा"॥ (तु०रा०) ॥ ८ ॥

भाषापद्यानुवादः

बरधा टाङ्गा खाल फनि, फरसा राख कपार ।
वरदायक ! इतनी अहै, तुमरी पूंजि पसार ॥
तुव भृकुटीके हिलन (दान) ते, लहत ऋद्धि सब देव ।
आतम ज्ञानिहिं विषयकी, मृगतृष्णा नहि सेव ॥ ८ ॥

भाषाबिम्बम्

बडा बर्धा टांगा प(फ)रसु मृग(गज) छाला भसम लै,
कपालै सर्पोंको ध(क)रत निज तंत्रोपकरनै ।
समृद्धी पावैहैं सकल सुर तो-भौंह हिलतै
प्रभू-लोगों पै तो विषय-मृगत्रिस्ना (तृष्णा) नहि चढै ॥ ८ ॥

ध्रुवं कश्चि त्सर्वं सकल मपर स्त्व ध्रुव मिदं
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्ते ऽप्येतस्मि न्पुरमथन तै र्विस्मित इव
स्तुव ञ्जिहेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥९॥

मधुसूदनी टीका

एवं स्तुत्ययोर्हरिहरयोर्निर्गुणं सगुणं च स्वरूपं निरूपितं, संप्रति स्तुतेः प्रकारं निरूपयंस्तौति—

ध्रुवमिति । हे पुरमथन, तैः स्तुतिप्रकारैस्त्वां स्तुवन्न जिह्रेमि नाहं लज्जे । विस्मित इव जातचमत्कार इव । यथा कश्चिदद्भुतं दृष्ट्वा विस्मितस्तत्परवशत्वाल्लोकोपहासमगणयित्वा विचेष्टते तथाहमपि स्तोतुमयं न जानातीति जनो मामुपहसिष्यतीति लज्जामगणयन् त्वत्स्तुतौ प्रवृत्तोऽस्मीत्यर्थः । तैः कैः प्रकारैरित्याह । ध्रुवमित्यादि । कश्चित्कोऽपि सांख्यपातञ्जलमतानुसारी सर्वं समग्रं जगद्ध्रुवं जन्मनिधनरहितं सदेव गदति । व्यक्तं वदतीत्यर्थः । नह्यसत उत्पत्तिः संभवति न वा सतो विनाश इत्याविर्भावतिरोभावमात्रमुत्पत्तिविनाशशब्दाभ्यामभिलक्ष्यते । तेन परमेश्वरोऽपि तावन्मात्रस्येष्टे न त्वसत उत्पत्तेः, सतो वा विनाशस्येत्यभिप्रायः । इति सत्कार्यवाद एकः पक्षः । तथाऽपरोऽन्यः सुगतमतानुवर्ती सकलमिदमध्रुवं क्षणिकमिति गदति । नहि सतः स्थिरत्वं संभवति । अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वम् । (१)तच्च सदर्थस्यैकक्षणयोगेन न विलम्बेनोत्पद्यते इति । एकस्मिन्क्षणे सर्वार्थक्रियासमाप्तेरुत्तरक्षणेऽसत्त्वमेव । तथाच परमेश्वरस्यापि क्षणिकविज्ञानसंतानरूपत्वादसावसत उत्पत्तेरीष्टे नतु सतः स्थिरत्वायेति द्वितीयः पक्षः सर्वक्षणिकतावादलक्षणः ॥ तदुभयपक्षासहिष्णुश्च परस्तार्किकः समस्तेऽप्येतस्मिञ्जगति ध्रौव्याध्रौव्ये नित्यत्वानित्यत्वे व्यस्तविषये भिन्नधर्मवर्तिनी गदति (आकाशादिचतुष्कपृथिव्यादिचतुष्कपरमाणवश्च नित्याः । आकाशकालदिगात्ममनः पृथिव्यादिपरमाणवश्च नित्याः इति वा)

(१) 'सदर्थस्याक्षेपायोगेन' इति पाठः ।

कार्यद्रव्याणि चानित्यानि। तथा चानित्यानामुत्पत्तिविनाशयोरीष्टे परमेश्वरो नतु नित्यानामपीत्यर्थः। इत्येवं तृतीयः पक्षः। तथाच त्रिष्वप्येतेषु द्वैताङ्गीकारादद्वितीयसन्मात्ररूपस्य परमेश्वरस्य स्पर्शोऽपि नास्तीति सोपाधिकसंकुचितैश्वर्यरूपेण स्तुतिः सर्वथा लज्जाकरीत्यर्थः। तर्हि किमिति न लज्जस इत्यत आह। ननु अहो खलु निश्चितं मुखरता वाचालता धृष्टा निर्लज्जा। तथाच मुखरतैव लज्जामपहरतीत्यर्थः। एवं सर्वप्रकारप्रवादकवादादीनामाभासत्वमुक्तम्, अद्वितीयवादस्यैव लज्जानास्पदत्वेन सत्यत्वमिति द्रष्टव्यम्। एतच्च 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' इत्यादौ स्पष्टीकरिष्यते। हरिपक्षेऽप्येवम्। तत्र पुरमथनशब्दः प्राग्व्याख्यातः ॥ ९ ॥

संस्कृत टीका

(पुरमथन!) हे त्रिपुरदाहक! (कश्चित्) सांख्यपातञ्जलदर्शनानुयायी (सर्वं) सचराचर मखिलं (इदं) दृश्यमानं (जगत्) ब्रह्माण्डमण्डलं (ध्रुवं) नित्यं अविनाशीति यावत् (गदति) कथयति। तन्मते समस्त मपीदं जग दविनश्वरमेव। (तु) इति हेतु निदर्शनं (अपरः) तद्भिन्नो बौद्धादिमतानुवर्ती (सकलं) अशेषं जगत् (अध्रुवं) अनित्यमेव वदति। (परः) ताभ्या मन्यो वीतरागो मध्यस्थः तार्किको वा (समस्तेऽप्येतस्मिञ्जगति, ध्रौव्याध्रौव्ये) ध्रुवत्वाध्रुवत्वे, नित्यत्वानित्यत्वे इत्यर्थः (व्यस्तविषये) निक्षिप्तप्रमाणे, भिन्नधर्मावच्छिन्ने वा (गदति) कथयति। यथा-आकाशादिपञ्चकं परमाण्वादिकञ्च नित्यं, घटपटादि कार्यजातमनित्यमिति वदति। अनेन प्रकारेण तैः पूर्वकथितनित्यत्वानित्यत्वादिवादिभिः (विस्मित इव) आश्चर्यतां गतो मोहितश्चाहं (त्वां) भवन्तं (स्तुवन्) स्तुत्या तोषयन्, सन् (जिहेमि) लज्जे, लज्जितो भवामि (ननु) अहो! (खलु) निश्चयेन (मुखरता) वाचालता (न धृष्टा) अपितुसर्वथैव धृष्टेतिध्वने रभिप्रायः। काचिन्नकारस्य जिहेमीतिपदेनैव सङ्गतिरुरीकृता। अत्र जगतो नित्यत्व मनित्यत्वं नित्यानित्यत्वञ्च तत्तत्पथानुसारेण दर्शयित्वा तद्विषये स्वाश्चर्यतामपि प्रतिपाद्य भगवतः स्तुत्यर्थमात्मनो वाचालतैव प्रकटीकृतेति ॥ ९ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

एको ध्रुवं वक्ति जग त्समग्रं, परो वदत्य ध्रुव मेव सर्वम् ।
ध्रुवाध्रुवं कश्चि दिदं ब्रवीति, व्यस्त स्समस्तो विषय स्ततोऽस्य ॥
एवं वदद्भि र्बहुभि र्निजं मतं, तै र्वादिभि र्विस्मयता मह ङ्गतः ।
लज्जे स्तुवं स्त्वा न्त्रिपुरासुरान्तक! वाचालता धृष्टतया युनक्ति माम्॥९॥

भाषा टीका

इस प्रकारसे भगवानके निर्गुण और सगुण रुपोंका वर्णन करके अव स्तुति करनेका प्रकार दिखलाते हैं-(पुरमथन !) हेत्रिपुरासुरदाहक ! (कश्चित्) कोई, अर्थात् सांख्य और पातंजल इत्यादि दर्शनोंका माननेवाला (इदं सर्वं) यह सचराचरसमस्त (जगत्) ब्रह्मांड (ध्रुवं) नित्य है, अर्थात् इसका कभी नाश नहीं होता-ऐसाही कहता है (अपरस्तु) और उससे भिन्न दुसरा तो, अर्थात् बौद्धादिक (सकलं अध्रुवं) अशेष [सारा] संसार अनित्य है यही सिद्ध करता है । (परः) इन दोनोंहीसे भिन्न वीतरागी अथवा तार्किक (समस्ते अपि एतस्मिन् जगति ध्रौव्याध्रौव्ये व्यस्तविषये) इस समग्रभी संसारमें नित्यत्व, अनित्यत्व भिन्नधर्मवर्ती बने रहते हैं-अर्थात् जगतमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही मिले हैं-अभिप्राय यह कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा,-आत्मादिकोंके परमाणु तो नित्य हैं और कार्य द्रव्य अनित्य हैं-ऐसा (गदति) कहता है । अत एव (तैः) उन सब दार्शनिकों द्वारा (विस्मित इव) मानों चकित होकर (त्वां स्तुवन्) मैं आपकी स्तुति् करताहुआ (जिहेमि) बहुत लज्जित होरहाहूं। (ननु) अहो (खलु) निश्चय करके (मुखरता न धृष्टा ?) वाचालता धृष्ट नहीं है ? अर्थात् धृष्टही है । भाव यह है कि, ऊपरके कहे हुए तीनों प्रकारके मतवादियोंनें द्वैतही को स्वीकार किया है-इसीसे अद्वैतरूप सन्मात्र परमेश्वरका स्पर्शभी नहीं होने पाता-इसलिये इन लोगोंकी सिद्धान्त-शैलीको देखकर मै तो आश्चर्य में पडगया हूं-इसीसे आपकी स्तुति करनेमें लज्जित होरहा हूं-फिरभी वकवादीपन ढीठाई किये विना नहीं मानती ॥

भाषापद्यानुवादः

एक कहत जग नित्य यह, दूजो कहत अनित्य ।
अपर कहत दोऊ मिलत, जगमें नित्य-अनित्य ॥
इहिविधि अचरचमें परो, अस्तुति करत लजाउं ॥
काह करौं बाचालता (वकवादिपन); लहत ढिठाई ठाँउ ॥९॥

भाषाबिम्बम्

कहें कोऊ सारा जगत नित, दूजे अनित है,
परे भाषैं नाही नित अनित दोऊ मिलित है ।
यही भांती कर्ते स्तुति चाकित ह्वै लज्जित बनौं,
नहीं ढीठी जिह्वा तजति बकवादीपन तबौं ॥ ९ ।

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिंचिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य-
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति॥१०॥

मधुसूदनी टीका

एवं श्लोकनवकेन स्तुतिसामग्रीं निरूप्य स्तुतौ प्रस्तुतायां समस्तप्रभाववतामग्रेसरयोर्हरिविरंच्योरपि त्वत्प्रसादादेव त्वत्साक्षात्कार इत्येवं निरतिशयं माहात्म्यं प्रकटयन्स्तौति—

तवेति । हे गिरिश, तवानुवृत्तिः सेवा किं न फलति । अपि तु सर्वमेवं फलति । त्वत्साक्षात्कारपर्यन्तं फलं ददातीत्यर्थः । तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतां द्रढयितुं भगवदनुवृत्तिव्यतिरेके फलव्यतिरेकमाह । यद्यस्मादनलस्कन्धवपुषस्तेजःपुञ्जमूर्तेस्तवैश्वर्यं स्थूलं रूपं परिच्छेत्तुमियत्तयावधारयितुमुपर्यूर्ध्वं विरंचिर्ब्रह्मा अधोऽधस्ताद्धरिर्विष्णुः यत्नात्सर्वप्रयत्नेन यावद्गन्तुं शक्तौ तावद्यातौ गतौ अनलं नाऽलम् । न परिच्छेत्तुं समर्थावित्यर्थः । यत्र स्थूलरूपमप्यपरिच्छेद्यं तत्र दूरे सूक्ष्मरूपपरिच्छेदसम्भावना । तेन त्वदनुवृत्तिं विना हरिविरंच्योः प्रसिद्धमहाप्रभावयोरपि त्वं न विज्ञेयस्तत्र का वार्ता·

ऽन्येषामिति व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाह । ततस्तस्मा(त्कारणा)त्स्वय-
त्वैफल्यादनन्तरं ताभ्यां हरिविरंचिभ्याम् । 'श्लाघह्नुङ्स्थाशपां
ज्ञीप्स्यमानः' इति चतुर्थी । तयोर्ज्ञानायेत्यर्थः । कीदृशाभ्यां भक्ति
श्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्याम् । भक्तिरत्र कायिकी सेवा, श्रद्धास्तिक्यबुद्धिः
(मानसीसेवा), तयोर्भरोऽतिशयस्तेन गुरु श्रेष्ठं निरतिशयं यथा
तथा गृणद्भ्यां स्तुवद्भ्यां वाचिकीं सेवां कुर्वद्भ्याम् । यद्धि गुरुतरं
भवति शिलोच्चयादि तत्पवनपर्जन्यादिभिर्न विक्रियामुपैति अलघु-
द्रव्यत्वात्, तथा स्तुतिरप्यतिगौरववती शिलोच्चयादिस्थानीया
पवनपर्जन्यस्थानीयैर्विघ्नैश्चालयितुं न शक्येति गुरुशब्देन ध्वनित-
म् । एवंरूपेण तवैश्वर्यं स्तुवद्भ्यां ताभ्यां किमित्याह । स्वयं तस्थे
स्वयमेव नतु तयोः प्रयत्नेन तस्थे स्वमात्मानं प्रकाशयति स्म । अत्र
तवैश्वर्यमिति कर्तृपदं द्रष्टव्यम् । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्म-
नेपदम् । यद्वा गृणद्भ्यामिति कर्तरि तृतीया । तस्थे स्थितं निवृत्त
मिति भावप्रत्ययः । ततस्तयोर्निवृत्तावपि किं तवानुवृत्तिर्न फलति ।
अपितु फलत्येवेत्यर्थः । तस्मादेव हरिविरंचिभ्यामपि त्वदनुवृत्त्यैव
त्वं साक्षात्कृतः का वार्ताऽन्येषामित्यन्वय उक्तः । एवं त्वदनुवृत्तिरे-
व सर्वं फलतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकृतम् ॥ हरिपक्षे तु गिरौ
गोवर्धनाख्ये शेते गोपी रमयन्निति गिरिशः श्रीविष्णुः । अथवा गि-
रिं मन्दरं श्यति तनूकरोति क्षीरोदं मथ्नन्निति गिरिशः । योजनिका
पूर्ववत् । हरिः सर्पः शेषः विरंचिशेषाभ्यामपि त्वत्कृपयैव त्वं प्राप्त
इति पूर्ववत्सर्वम् । अत्र 'अनिल' इति क्वचित्पाठः स न सांप्रदायि-
कः । तथा चान्यत्रोक्तम् 'नोर्ध्वं गम्यः सरसिजभुवो नाप्यधः शार्ङ्ग-
पाणेरासीदन्तस्तव हुतवहस्कन्धमूर्त्या स्थितस्य' इति ॥ १० ॥

संस्कृत टीका

(गिरिश !) हेगिरिशायिन् ! गिरौ शेते इति गिरिशः–"गिरौ
डश्छन्दसि" ३ । २ । १५–इत्यतो डः । अथवा गिरि राश्रयत्वेना स्या
स्ति–"लोमादिपामादि–" ५ । २ । १००–इत्यादिना शः । तथाचोक्तम-
पि क्वचित्–"हरो हिमालये शेते हरि श्शेते महोदधौ" । (अनल-
स्कन्धवपुषः) ज्योतिस्समूहशरीरस्य, ज्योतीरूपस्येत्यर्थः । (तव)
भवतः (ऐश्वर्यं) महत्त्वं, स्थूलरूप मित्यर्थः (यत्नात्) महता

परिश्रमेण (परिच्छेतुं) एतावदिति निश्चेतुं, परीक्षार्थं वा (उपरि) ऊर्ध्वदेशे (विरिञ्चिः) ब्रह्मा । "विरिञ्चो द्रुहिणः शिञ्जो विरिञ्चि र्घुणो मतः ।"—इति शब्दार्णवः । क्वचित् विरञ्चि रपि लभ्यते— यथा "चिरं विरंचिर्नचिरं विरञ्चि" रिति । (हरिः) विष्णुः (अधः) अधोदेश एवं इमौ ब्रह्मविष्णू (अनलं यातौ) असमर्थौ भूतौ । क्वचि "दनिलस्कन्धवपुष" इत्यपि पाठो दृश्यते तत्र वायुशरीरस्ये त्यर्थः । ततो वायुतरत्रपर्य्यन्तं लिङ्गस्य मस्तकं कालाग्निपर्यन्तं मूलं, ब्रह्मा ब्रह्माण्डव्यापी, विष्णु रसत्वनिवासी कथ मेतौ भवती महिमानं परिज्ञातुं समर्थौ स्यातामिति तात्पर्य्यार्थः । (ततः) तदनन्तरं (भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां) भक्ति र्भजनं, श्रद्धा विश्वासपूर्विका स्पृहा, तयो र्भरः समूहो भारो वा महत्त्व मित्यर्थः, तेन गुरु महत् यथा भवति तथा गृणद्भ्यां स्तुवद्भ्यां (ताभ्यां) ब्रह्मविष्णुभ्यां—अत्र—"श्लाघन्हुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः—" १ । ४ । ३४— इत्यतो बोधनार्थे चतुर्थी । (यत्) तवैश्वर्य्यं (स्वयं) स्वयमेव (तस्थे) प्राप । "प्रकाशन स्थेयाख्ययोश्च"—१ । ३ । २३—इत्यात्मनेपदम् । (तव) भवतः (अनुवृत्तिः) सेवनं (किन्न फलति) अपितु सर्वमेव ददातीत्यर्थः । अत्र कदाचि दहमहमिकया विवदतो र्ब्रह्मविष्ण्वो र्मध्ये ज्योतीरूपं लिङ्गं प्रकटय्य तदाद्यन्तसीमपरिज्ञानार्थ मादिश्य च भगवता तौ असमर्थौ सन्तौ स्वय मनुगृहीतौ—इति शैवपुराणोक्ता कथाऽवगन्तव्या स्कन्दपुराणस्य माहेश्वरखण्डान्तर्गताऽरुणाचल माहात्म्येप्येषा कथा सविस्तरा वर्णितास्तीति च । तथा चैव मेवोक्त मस्मत्पितृव्यैः "पण्डित चन्द्रशेखरत्रिपाठिभि" र्निजनिर्मितविश्वनाथस्तुतौ—

"यः कञ्जभूकमलनाभविवादकाले,
प्रादुश्चकार निजबोध मनन्तलिङ्गम् ।
पूज्यं हरिं विधि मपूज्य मत श्चकार,
तं विश्वनाथ मुमया सहितं भजेऽहम् ॥"

स्कन्दपु० माहेश्वर-कौमारिकाखं-२३-अ०
सृष्ट्यादौ लिङ्गरूपी स विवादो मम ब्रह्मणः ।
अभू दस्य परिच्छेदे नाल मावां बभूविथ॥ २८/१ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

ज्योतिःस्वरूपस्य हि वैभव न्ते, ज्ञातुङ्गतोऽधो जलशायिदेवः।
ब्रह्मो परिष्टा दपि नो समर्थौ, स्यातां यदा तौ सुरवृन्दवन्द्यौ ॥
श्रद्धामहाभक्तिभरै स्स्तुवद्भ्यां ताभ्यां तदा तत्स्वय मेव तस्थे।
स्वयंप्रकाशा ऽद्य! गिरीश! सत्यं, तवा नुवृत्तिः फलिनी सदैव ॥१०॥

भाषा टीका

(गिरिश !) हे कैलासवासिन् ! (अनलस्कन्धवपुषः) ज्योतिः पुंज शरीर धारी,अर्थात् ज्योतीरूप (तव) आपके (ऐश्वर्य) माहात्म्यको, किंवा स्थूलरूपको (परिच्छेत्तुं) परिखनेकेलिये, कितना है-इसकी जांच करनेको (यत्नात्) बडे परिश्रमसे (विरिंचः) ब्रह्मा, तो (उपरि) ऊपरको और (हरिः) भगवान् विष्णु (अधः) नीचेकी ओर (यातौ) जानेपर (अनलं) असमर्थही हुए-(ततः) तदनंतर (भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां ताभ्यां) भजन और श्रद्धाके भारसे गौरवयुक्तहोकर स्तुति करने पर उन दोनों ही देवश्रेष्ठोंसे (स्वयं तस्थे) आपस्वयं मिले अथवा प्रकाशित हुए-क्योंकि (तव अनुवृत्तिः किं न फलति ?) आपकी सेवा क्या नहीं फलती है ? अर्थात् सभी फलोंको देती है। तात्पर्य यह है कि-पूर्वोक्त श्लोकोंमे स्तुतिकी सामग्रीको निरूपण किया, फिर स्तुति आरम्भ करके परमप्रभावशाली ब्रह्मा विष्णुभी आपहीके भजन और सेवनसे आपको जानसके हैं यह बातभी प्रकट करदी-क्योंकि ब्रह्मा तो ब्रह्मांडभरही में व्याप्त रहते हैं, और विष्णु जलतत्त्वके निवासी होनेसे उन सबके परे रहने वाले आपको कैसे जान सकते हैं-हां जब आपही स्वयं उनको जनादेते हैं, तभी जान सकते हैं-जैसा कहा है—

"सोइ जानै जेहि देहु जनाई,
जानत तुम्है तुम्है होइ जाई। (तु० रा० ")

शिव पुराण में यह कथा है कि-एकवार ब्रह्मा और विष्णु में यह विवाद उठपडा कि बडा कौनहै ? दोनों ही सुरश्रेष्ठ शिवके

पास गये तो उह्नोने अपने ज्योतिर्लिङ्गका पता लगाने वालेको बड़ा ठहराया इसपर ब्रह्मा ऊपर चले विष्णु नीचेकी ओर सिधारे-फिर ब्रह्माने तो गौ और केतकी पुष्पको साक्षी देकर अपनेको अन्ततक पहुचने बाला बतलाया पर विष्णुने हार मानली-इस पर भगवानने ब्रह्माको अपूज्य और गौको मलभोजी एवं केतकीको कंटक और सर्पोंका स्थान बनाकर त्याज्य करादिया-पर सत्यरूप विष्णुहीको अपनेसेभी श्रेष्ठ होनेकी आज्ञा दी-इसीसे गौका पिछला भाग शुद्ध और आगेका भाग अशुद्ध है-और केतकी शिव को नहीं चढाई जाती, सृष्टिकर्ता होनेपर भी संसारमें यज्ञोंको छोड़कर ब्रह्माका पूजन नहीं होता-यह कथा लिंग पुराण तथा स्कन्द पुराणादिको में भी बहुशः पाई जाती है-इससे यह बात सिद्ध होती है कि पहिले जो यह कह आयेकि देवते आपहीके भौंहकी दीहुई सम्पत्ति भोगते हैं सो वही बात सर्बदेवश्रेष्ठ ब्रह्मा विष्णुके ऊपर अनुग्रह वर्णन करके दिखाई है-जिससे यह स्पष्ट है कि ये देवते लोगभी परमशिवकी उपासना करकेही बड़े महत्त्व पदको प्राप्तहुए हैं-इस प्रकारसे परम शैव देवतोंका वर्णन करके अब दैत्यराक्षसादिक शैवोंकाभी आगे वर्णन आरंभकरते हैं ॥ १० ॥

भाषापद्यानुवादः

तुमरे ज्योती लिंगकी. महिमा बूझन लाय ।
ऊपर ब्रह्मा चढिचले, नीचे विष्णु सिधाय ॥
थकिकै अस्तुति तिन करी, श्रद्धा भक्ति बढाय ।
मिले आप कब नहि फलै, तुव सेवा पनफाय ॥ १० ॥

भाषाबिम्बम्

परीछा-लेवैको तुव अगम ऐश्वर्ज पदमें
गये विस्नू (ष्णू) नीचे उपरि चलि ब्रह्मा थकित भे ।
भजे स्रद्धा-(श्रद्धा)भक्ती करि तुरत आपै तिहि मिले
तुह्मारी सेवासे नहिं लहत सो कौन फल है ? ॥ १० ॥

अयत्ना दापाद्य त्रिभुवन मवैरव्यतिकरं
दशास्यो य द्वाहून भृत रणकण्डूपरवशान् ।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिराया स्त्वद्भक्ते स्त्रिपुरहर विस्फूर्जित मिदम् ॥११॥

❧ मधुसूदनी टीका ❧

अथ बलिरावणयोरसुरयोरपि भगवदनुग्रहं दर्शयन्स्तौति– *अयत्नादिति*। हे त्रिपुरहर, स्थिराया निश्चलायास्त्वद्भक्तेस्तव सेवायाः विस्फूर्जितमिदं प्रभावोऽयम् । किंविशिष्टायास्त्वद्भक्तेः । शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः । शिरांस्येव पद्मानि अर्थाद्रावणस्य तेषां श्रेणी पङ्क्तिस्तया रचितः कल्पितश्चरणाम्भोरुहयोः पादपद्मयोर्बलिरुपहारो यस्यां सा तथा । रावणेन हि नवभिर्निजशिरोभिः स्वहस्तकृत्तैः शंभोरुपहारः कृते इति पुराणप्रसिद्धम् । किं तद्विस्फूर्जितमित्यत आह । यत् दशास्यो रावणो बाहून्विंशतिभुजान् । कीदृशान् । रणाय युद्धाय कण्डूः खर्जूः । अतिस्पृहेति यावत् । तया परवशांस्तदधीनानभृत धृतवान् । रणकण्डूर्हि रणेनैव निवर्तते । रणसम्भवाच्च सर्वदा कण्डूरेव तद्भुजेष्विति भावः । तर्हि रणं संपाद्य किमिति तत्कण्डूं न निवर्तयतीति चेन्न, प्रतिमल्लाभावादित्याह । त्रिभुवनं त्रैलोक्यमवैरव्यतिकरं न विद्यते वैरस्य विरोधस्य व्यतिकरः कारणं दर्पादि यत्र तत्तथा आपाद्य । त्रैलोक्यवर्तिनो वीरानिन्द्रादीन्स्वदास्यं नीत्वेत्यर्थः । तदप्ययत्नादयत्नेनैव । स्वयमेव रावणपराक्रमं श्रुत्वा सर्वे वीरा दर्पादि त्युक्तवन्त इत्यर्थः । तथा चानायासेनैव निर्जितत्रिजगतो रावणस्य भुजानां कण्डूनैव शान्तेत्येष शौर्यातिशयो भगवद्भक्तेरेव प्रभाव इत्यर्थः । 'आसाद्य' इति क्वचित्पाठः । तस्य प्राप्येत्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । त्रीणि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यानि पुराणि भक्तानां जीवानां स्वसाक्षात्कारेण हरतीति त्रिपुरहरो विष्णुः । हे त्रिपुरहर मोक्षदायक विष्णो, दशास्यो यत्तादृशान् बाहून्भुजानभृत तत्त्वद्भक्तेरेव पूर्वं कृताया इदानीं फलरूपेण परिणममानायाः, अत एव स्थिराया अनेककल्पव्यवधा-

नेऽपि यावत्फलपर्यन्तं स्थायिन्यास्तव सेवाया विस्फूर्जितमिदं नान्यस्य प्रभावोऽयमित्यर्थः। त्वदीयवैकुण्ठपुरद्वारपालस्य पार्षदप्रवरस्य ब्रह्मशापव्याजेन त्वदिच्छयैवासुरीं योनिमनुभवतोऽपि रावणस्य त्वद्भक्तिप्रभावादेव निरतिशयं पौरुष मित्यर्थः। तथाच बलेर्वैरोचनेः त्वद्भक्तेर्विस्फूर्जितमिदं यागशालायां त्वदागमनत्वत्पाणितोयदानत्वच्चरणाम्बुजस्पर्शनादि एतत्सर्वं सूचयन्संबोधयति। हे शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुह। अत्रापि बलेरिति सम्बध्यते। बलेः शिर एव पद्मश्रेणी पद्ममयी निःश्रेणिका पादविक्षेपभूमिस्तस्यां रचितमर्पितं चरणाम्भोरुहं येन स तथा। योगपद्मपीठे हि भगवच्चरणारविन्दाधारत्वेन बलेः शिरोऽपि पद्मपीठत्वेन निरूपितम्! शिरःशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वाच्चात्र सापेक्षसमासो न दोषाय, देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत्। बलिना खलु भगवद्वामनावतारप्रार्थनया पदत्रयमिता भूमिर्देयेति प्रतिज्ञातं, तत्र पदद्वयेनैव सर्वस्मिञ्जगति भगवताक्रान्ते स्वसत्यपालनाय तृतीयपदस्थाने स्वशिर एव बलिना दत्तं, तच्च भगवता स्वपादाम्बुजेनावष्टब्धमिति पुराणप्रसिद्धम्। नह्येतादृशः प्रसादो ब्रह्मादिभिरपि लब्धोऽस्ति। तस्माद्बलिकृतायास्त्वद्भक्तेरेव प्रभावोऽयमित्यर्थः॥ ११॥

संस्कृत टीका

(त्रिपुरहर!) हे त्रिपुरविदारक (दशास्यः) रावणः (यत्) प्रसिद्धं (अयत्नात्) विनैव प्रयासेन (त्रिभुवनं) त्रैलोक्यमात्रं (अवैरव्यतिकरं) स्वशत्रुसम्पर्कशून्यं, निष्कण्टकमित्यर्थः (आपाद्य) आसाद्य, कृत्वा वा (रणकण्डूपरवशान्) युद्धखर्जूपराधीनान्, सङ्ग्रामलोलुपानिति यावत (बाहून्) भुजान् (अभृत) धृतवान् (तत्, शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः) शिरांसि मुण्डान्येवपद्मानि तेषां श्रेणी पङ्क्तिस्तया रचिता कृता चरणाम्भोरुहयोः पदकमलयो र्बलिः पूजोपहारो यस्यां-तस्याः (स्थिरायाः) अचलाया, दृढायाः (त्वद्भक्तेः) भवत्सेवायाः (इदं) प्रत्यक्षं (विस्फूर्जितं) विलसितं, प्रतापफल मस्तीतिशेषः। अत्र रावणस्य निर्द्वन्द्वं त्रैलोक्यराज्याधिपत्यरूपं फलं त्वद्भक्ते रेवेति भक्तिमहिमा यथावत्स्फुटीकृत इति॥ ११॥

संस्कृतपद्यानुवादः

स्वशत्रुसम्पर्कविहीन मेत, त्रैलोक्य मापाद्य दशाननो यः ।
दधार (बभार) बाहून् रणलम्पटान्स्वा, न्सङ्ग्रामकण्डूतिवशंवदान्वा ॥
शिरोऽब्जमालारचितांघ्रिपद्म-बलेः स्थिरायां भवत स्तुभक्त्याः ।
भक्तेष्टदानव्रतिनः पुरारे! विस्फूर्जितं त त्पकटं विभाति ॥ ११ ॥

भाषाटीका

(त्रिपुरहर !) हेत्रिपुरासुरान्तक ! (दशास्यः) दशमुख रावणने (यत्) जो (अयत्नात्) विना प्रयासहीके (त्रैलोक्यं) तीनों लोकोंको (अवैरव्यतिकरं) अपने शत्रुवर्गसे रहित (आपाद्य) बनाकर (रणकण्डूपरवशान्) संग्रामकी खुजलीसे पराधीन, अर्थात् युद्धाभिलाषी (बाहून्) [बीसों] भुजाओंको (अभृत) धारणकिया (तत्) सो, वह (शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः) मुंडरुपी कमलोंकि मालासे कीगई है चरणारविन्दकी पूजा जिसकी ऐसी (स्थिरायाः) निश्चल (त्वद्भक्तेः) आपहीकी भक्तिका (इदं) यह, प्रत्यक्ष (विस्फूर्जित) विलास अथवा प्रताप-फल है । अभिप्राय यहाकि-कुछ प्रयत्न किये विनाही त्रैलोक्यभरका निष्कंटक राज्य पाकर प्रतिद्वन्द्वी योद्धा नहीं मिलनेसे अपने बाहुओंकी खुजलाहटको मिटानेमें जो रावण दर्पित बना रहा उसका कारण अपने मुंडोंको काटकर आपके चरण कमलोंपर चढा देनेकी दृढ भक्ति है-अर्थात् आपही की सेवाका उसे यह असाधारण फल मिला था । यथा—

"रन मद मत्त फिरै जगधावा । प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा ॥
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी । दसमुख बसवर्ती नरनारी ॥"
इत्यादि ।

और फिर जैसीकि रावणकी उक्ति अंगदके प्रति कही गई है—

"जान उमापति जासु सुराई,
पूजे जेहि सिर सुमन चढाई ।
सिर सरोज निज करहि उतारी,
पूजे अमित वार त्रिपुरारी (तु ० रा०)" ॥ ११ ॥

❁ भाषापद्यानुवादः ❁

विनु प्रयास त्रैलोक मँह, करि निष्कंटक राज ।
भयउ दसानन भुजन धरि, परम विवस रन खाज ॥
मुंड-माल पद कमल पै, तुम्हरे दियो चढाय ।
तुव दृढ भक्ती विमल फल, त्रिपुरान्तक ! अधिकाय ॥ ११ ॥

❁ भाषाबिम्बम् ❁

विना जत्नै जीत्यो त्रिभुवन बली रावन सबै,
भुजासाली ह्वैके भयउ रन-कंडू वस तबै ।
चढादीन्ह्यो सीसै करि कमल-माला चरन-पै
तिहारी भक्तीका प्रकट फल स्वामी विदित है ॥ ११ ॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः ।
अलभ्या पाताले ऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः ॥१२॥

❁ मधुसूदनी टीका ❁

एवं बलिरावणयोर्भक्तिवशादनुग्रहं प्रदर्श्य तयोरेव दर्पवशान्निग्रहं प्रदर्शयन्स्तौति—

अमुष्येति हे त्रिपुरहर, अमुष्य पूर्वश्लोकोक्तस्य रावणस्य प्रतिष्ठा स्थितिः त्वयि अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि सति पातालेऽप्यलभ्या आसीत् । अलसं मन्दं यथा स्यात्तथा चलितं कम्पितमङ्गुष्ठशिरोऽङ्गुष्ठाग्रं येन स तथा तस्मिन् । चलितामिति ह्रस्वत्वं च कम्पतेश्चलतेर्मित्त्वानुशासनात् । तथाच तवाङ्गुष्ठकम्पनमात्रेणैव तस्य वीराभिमानिनोऽधः प्रवेशोऽशक्यप्रतीकार आसीदित्यर्थः । अमुष्य किं कुर्वतः । त्वदधिवसतावपि कैलासे तव मन्दिरेऽपि स्फटिकगिरौ भुजवनं भुजवृन्दं विंशतिसंख्याकं बलाद्विक्रमयतोऽतिशौर्येण व्यापारयतः । इममुत्पाट्य लङ्कायां नेष्यामीत्यभिप्रायेण भुजचेष्टां कुर्वत

इत्यर्थः। कीदृशं भुजवनम्। त्वत्सेवासमधिगतसारं तव सेवया
समधिगतः प्राप्तः सारो बलं येन तत्तथा। त्वत्प्रसादेनैव बलमा-
साद्य त्वद्गृहमुत्पाटयतीत्यहो कृतघ्नता मौढ्यं चेत्यभिप्रायः। एवं
हि पुराणप्रसिद्धं 'भगवत्प्रसादादासादितबलेन रावणेन स्वबलप-
रीक्षार्थं भगवन्निवासस्यापि कैलासस्योत्पाटनमारब्धम्। ततश्च पा-
र्वत्या भीतया प्रार्थितो भगवान्कैलासस्याधोगमनार्थमङ्गुष्ठाग्रमात्रं
शनैर्व्यापारयामास। तावन्मात्रेणैव क्षीणबलो रावणः पातालं प्र-
विवेश। पुनश्च भगवता करुणया समुद्धृतः' इति। ननु भगवत्प्र-
सादाल्लब्धवरो रावणः कथं भगवन्तं तदानीं विस्मृतवानित्यत आ-
ह। ध्रुवं निश्चितं उपचितः समृद्धः सन् खलः कृतघ्नो मुह्यति कृतं
विस्मरति स्वोपचयहेतुमपि न गणयतीत्यर्थः॥ हरिपक्षे तु। कै-
लासे केलिः क्रीडा सैव प्रयोजनमस्येति कैलः कैलोऽसिः खड्गो य-
स्य सः कैलासिः। इच्छामात्रेण निर्जितसर्वशत्रोरपि तव क्रीडार्थ-
मेव नन्दकधारणमित्यर्थः। अमुष्य बलेः त्वदधिवसतौ त्वन्निवासे
तव स्वत्वास्पदीभूतेऽपि त्रैलोक्ये बलान्मदीयमिदं त्रैलोक्यमिति
स्वत्वाभिमानाद्भुजवनं हस्तोदकं विक्रमयतः मम स्वत्वत्यागपूर्व-
कमेतस्य प्रतिग्रहीतुः स्वत्वमुत्पादयामीत्यभिप्रायेण भगवतः पाणा-
वुदकं प्रयच्छतः। कीदृशं भुजवनम्। त्वत्सेवया समधिगतः सारः
सौभाग्यविशेषो येन तत्तथा। तव पाणिपद्मसंबन्धेनातितरां शोभ-
मानमुदकमित्यर्थः। तथाच सर्वजगन्निवासस्य तव स्वत्वास्पदीभूतं
यत्तत्स्वकीयमिति मत्वा तुभ्यं ददतो बलेर्महानेवापराधः। त्वया तु
परमकारुणिकेन प्रतिज्ञातविक्रमत्रयमितभूमिदानेऽपि तस्य साम-
र्थ्यमासाद्य तस्य (१)मत्ततानिवृत्तये योग्य एव दण्डः कृत इत्याह।
त्वयि अलसचलिताङ्गुष्ठशिरसि सति तस्य प्रतिष्ठा स्थितिः पाता-
लेऽलभ्यासीत् का वार्ता स्वर्गमर्त्ययोः। अथवा पाताले विद्यमान-
स्यापि बलेरिन्द्रादिभिरप्यलभ्या प्रतिष्ठा कीर्तिरासीत्। तत्र सर्वदा
भगवतः संनिहितत्वादिति भावः। अलसं सलीलं चलितः कम्पि-
तोऽङ्गुष्ठः शिरसि अर्थाद्बलेर्येन तस्मिन्। यथा तृतीयविक्रमभूम्यर्थं
बलिना शिरसि प्रसारिते तत्र च त्वदीयपादाङ्गुष्ठसंबन्धमात्रेणैव

(१) 'ममतानिवृत्तये' इति पाठः।

तस्य पातालप्रवेशो जात इत्यर्थः । ध्रुवमुपचितो इत्याद्यर्थान्तरन्यासः पूर्ववत् । अथवा खलोऽयमसुरो बालिरुपचितः मुह्यति । अतो मोहनिवृत्तयेऽपचितः कर्तव्य इति भगवतोऽभिप्रायवर्णनम् । 'यस्याहमनुगृह्णामि तस्य वित्तं हराम्यहम्' इति भगवद्वचनात् ॥ १२ ॥

संस्कृत टीका

हे भगवन् ! इत्यध्याहार्य्यं (त्वत्सेवासमधिगतसारं) भवदाराधनबलेनैव प्राप्तबलं "सारो-बले स्थिरांशे च ।"-इत्यमर-मेदिन्यौ । (भुजवनं) बाहुसमूहं. विंशतिसङ्ख्यकत्वा द्वन मिवे त्युपमिति समासः । (बलात्) शक्तिपूर्वकं-"अपादाने पञ्चमी"- २ । ३ । २८ । (त्वदधिवसतौ) भवतो निवासस्थाने (कैलासे) स्वनामाविख्याते हिमगिरिशिखरे, के जले लासो यस्य सः-केलासः-"हलदन्तात्" ६ । ३ । ९-इत्यलुक्-तस्यायं कैलासः । अथवा केलीनां समूहः कैलं-"तस्य समूहः"-४ । २ । ३७ इत्यण्-तेन आस्यते अत्रेति, आस उपवेशने-"हलश्च"-३ । ३ । १२१-इति घञ् । (विक्रमयतः) स्वपराक्रमं दर्शयतः (अमुष्य) पूर्वकथितनाम्नो रावणस्य (त्वयि)-(अलसचालिताङ्गुष्ठशिरसि) अलसेन अप्रयत्ना देव चलितं अधः कृतं अङ्गुष्ठस्य शिरः अग्रभागो येन सः-तस्मिन् । एतादृशे त्वयि भवति सति (प्रतिष्ठा) स्थितिः (पातालेऽपि) रसातलाद्यधः प्रदेशेऽपि (अलभ्या) सर्वथा दुर्लभा (आसीत्) बभूव । अहो ! युक्त मेवैतत् । यतः (उपचितः) उत्कृष्टलक्ष्म्या सम्पन्नः समृद्धो वा (खलः) दुर्जनः (मुह्यति) मोहं प्राप्नोत्येव-इति (ध्रुवं) निश्चितम् । अर्थान्तरन्यासेनैव कारणनिर्देशः । अत्र कदाचि त्स्वभुजदर्पितो रावणः कैलासपर्वत मुद्धृतवान, ततो भगवता निजाङ्गुष्ठाग्रभागेन नामितो गिरिस्तं नितरामपीडय दिति पौराणिकी कथाऽनुसंधेया ! ॥१२॥

संस्कृतपद्यानुवादः

त्वदीयसेवाप्तमहाबलं बलाद्,-भुजावनं दर्शयतः पराक्रमि ।
दशाननस्यो द्धरतोऽ तिदर्पिणः, त्वदीयकैलासनिवासपर्वतम् ॥
बभू स्वदङ्गुष्ठशिरः प्रकम्पना-,द्रसातलेऽपि स्थिति रेव दुर्लभा ।
इदं परं निश्चित मेव धूर्जटे ! खलः समृद्धः खलु मुह्यति प्रभो ! ॥१२॥

॥ भाषाटीका ॥

हे भगवन्! (त्वदधिवसतौ) आपके निवास स्थान (कैलासे-ऽपि) कैलास पर्वतमें भी (त्वत्सेवासमधिगतसारं) आपहीकी सेवासे प्राप्त हुए बलसे पूर्ण (भुजवनं) [बीसों] भुजारूपी वन-को (विक्रमयतः) पराक्रमी दिखलाते हुए (अमुष्य) इसी पूर्वोक्त रावणकी (प्रतिष्ठा) स्थिति [रहाइस] (त्वयि) आपके (अलस-चलिताङ्गुष्ठशिरसि) [सति] अलसाते हुये अंगुठाके अग्रभागको हिलादेने पर (पातालेऽपि) पातालमेंभी (अलभ्या आसीत्) नहीं मिल सकी (ध्रुवं उपचितः खलः मुह्यति) यह बात ध्रुव है कि, बढ़ा हुआ दुष्ट अथवा कृतघ्न मोहको प्राप्त होता ही है। अभिप्राय स्पष्ट है कि—

वही युद्धकी चाटसे भुजाओं को खुजलाने वाला रावण जब अपना जोडी योद्धा नहीं पासका तो आपहीकी सेवासे बल-बला-ते हुए अपने भुजोंकी खजुली मिटानेके लिए आपहीके निवास स्थान कैलास पर्वत को उठाने लगा पर जब आपने अपने अंगुठाके नोकसे दवा दिया तो उसे पातालमें भी ठिकाना नहीं मिला। जो वह आपहीसे वर पाकर आपहीको बल दिखाने लगा सो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्यों कि ओछे लोग अथवा दुष्ट जन ब-ढ़ती पाकर अवश्यमेव मोहान्ध हो जाते हैं, जैसाकि कहाहै।

"विषयी जीव पाइ प्रभुताई
मूढ़ मोह बस होंहि जनाई।"

अथवा

"ज्यहिते नीच बड़ाई पावा,
सो प्रथमहि हठि ताहि नसावा।" (तु० रा०)

यों ही रावणके कैलास उठाने की बातभी रामायणमें इस रीति-से कही गई है—

"कौतुकही कैलास पुनि, लीहेसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहु बल, चला अधिक सुख पाइ॥"

अथवा अंगदके प्रति भी रावणकी ऐसीही एक उक्ति लिखी है-यथा—

"पुनि नभसर मम कर निकर, करि कमलन पर बास।

सोभित भयउ मराल इव, संभु सहित कैलास ॥"
इसी भांति कैलासको महादेवका निवासभी लिखाहै यथा—
"परम रम्य गिरिवर कैलासू,
जहाँ सदा सिव उमा निवासू" । (तु० रा०) इत्यादि॥१२॥

भाषापद्यानुवादः

सो तुव सेवन पाइ बल, निज भुजवन पनफाय ।
तुव निवास कैलास गिरि, बल करि लयो उठाय ॥
रचिक अगूंठा-नोकते, चापत गयउ पताल ।
खल संपति पाये अवसि, परत (फंसत) मोहके जाल ॥ १२ ॥

भाषाविम्बम्

भुजोंमें सेवाते परम-बल पाई तुमहिसो,
उठालेवै चाह्यो गरब-वस कैलास गिरिको ।
अगूंठाके दाबेते दसवदन पाताल धसिगो,
समृद्धी पावैते अवसि खल मोहान्ध बनतो ॥ १२ ॥

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चै रपि सती-
मधश्चक्रे वाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः ।
न तच्चित्रं तस्मि न्वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्या उन्नत्यै (१)भवति शिरस स्त्वय्य वनतिः १३॥

मधुसूदनी टीका

पूर्वत्र भगवद्विषये समुन्नतयोर्वलिरावणयोरत्यन्तमवनतिर्दर्शिता । अधुना तत्रावनतयोरिन्द्रवाणयोरत्यन्तमुन्नतिं दर्शयन्हरिहरौ स्तौति-*यदिति* । सुत्राम्ण इन्द्रस्यार्द्धिं संपत्तिं परमोच्चैः सतीमप्यधश्चक्रे न्यक्कृतवान् । वाणो वलिसुतः । कीदृशः । परिजनविधेयत्रिभुवनः परिजनो दासस्तद्वद्विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्य, परिजनानामिव विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्येति वा । स तथा उच्चैः सतीं यदधश्चक्रे तदन्यत्र चित्रमपि तस्मिन्वाणे न चित्रं नाश्चर्यम् । कीदृशे ।

(१) 'पुन्नत्यै'-इति प्रचलितः पाठः ।

त्वच्चरणयोर्वरिवसितरि नमस्कर्तरि इन्द्रसंपत्तेरप्यधः करणं त्वच्चम-
त्कारस्य न पर्याप्तफलं किन्त्वेकदेशमात्रमित्याह । न कस्या इति ।
त्वयि विषये शिरसो याऽवनतिर्नमस्क्रिया सा कस्यै उन्नत्यै न भव-
ति । त्वयि तु सर्वामेवोन्नतिं मोक्षपर्यन्तां जनयितुं समर्था भवत्येवे-
त्यर्थः ॥ अवनतिरभ्युन्नतिहेतुरित्यतिशयोक्तिसंकीर्णोऽयमर्थान्तर-
न्यासः ॥ सर्वोत्कृष्टत्वमचिन्त्यमाहिमत्वं च भगवतः सूचयतीति भा-
वः ॥ हरिपक्षे तु । हे परम वरद, सुत्राम्ण इन्द्रस्य बाणः शर ए-
कोऽपि ऋद्धिं संपत्तिमुच्चैरधोऽपि सतीं त्रिभुवनव्यापिनीं चक्रे
कृतवान् यत् तत्तस्मिन्सुत्राम्णि न चित्रमित्यादि पूर्ववत् । त्वत्प्र-
सादादेव सर्वानसुरानेकेनापि बाणेन जित्वा त्रिभुवनराज्यं प्रा-
प्तवानिन्द्र इत्यर्थः । अत्र बाण इति शस्त्रमात्रोपलक्षणम् । कीदृशो
बाणः ॥ परिजनवद्विधेयमायत्तं त्रिभुवनं यस्मात्स तथा । शेषं
पूर्ववत् ॥ १३ ॥

✤ संस्कृत टीका ✤

(वरद !) हेवरदायक ! (परिजनविधेयत्रिभुवनः) स्वदासी-
कृतत्रैलोक्यः (बाणः) बाणनामासुरः (यत्) क्रियाविशेषण मव्य-
यपदं (सुत्राम्णोऽपि) इन्द्रस्यापि, किमुतान्येषां । सुष्ठु त्रायते इ-
ति सुत्रामा–"आतोमनिन क्वनि वनिपश्च–" ३ । २ । ७४ इत्यनेन म-
निन्प्रत्ययः । सु–उद्–इत्युपसर्गद्वयप्रयोगात् "सुत्रामा" दीर्घादि रपि
भवति । "सुत्रामा गोत्रभि द्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा ।"–इत्यमरः ।
(परमोच्चैः–सतीं) परममहत्त्वं गतां (ऋद्धिं) समृद्धिं, देवराजाधि-
पत्यसम्पदमिति भावः । (अधश्चक्रे) तिरश्चकार (तत्) यत्तदो-
र्नित्यसम्बन्धः । (त्वच्चरणयोः) भवदीयपादाम्बुजयोः (वरिवसि-
तरि) शुश्रूषके वरिवस्यतीति वरिवसिता–सेवक इत्यर्थः । "नमो-
वरिवश्चित्रङः क्यच्–" १ । ३ । १९–इति क्यच्, ततः–"क्यस्य
विभाषा–" ६ । ४ । ५०–इति यलोपश्च । (तस्मिन्) बाणासुरे (चि-
त्रं न) आश्चर्यस्थानं न भवति । यतः (त्वयि) भवतो विषये
(शिरसः) मस्तकभागस्य (अवनतिः) अवनमनं, प्रणाम इति
यावत् (अपि) किमु शुश्रूषणमिति–अपिभावः । (कस्य) साधार-
णस्या पि जनस्य (उन्नत्यै) अभ्युदयाय (न भवति) अपितु सर्वेषा

मेव महोदयदात्री सम्पद्यते इतिध्वनिः । अत्र शिरसोऽवनत्यैवो न्नति र्लभ्यते इति विरोधालङ्कारः । यदा भवतः प्रणामेनैव परमोत्कर्षलाभो भवति तदा परमाराधकेन बाणासुरेण ऐन्द्रं पद मधरीकृत मिति किमाश्चर्य मित्याभिप्रायः स्पष्ट एव । एतेषूक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु परमशैवानां रावण-बाणादीनां बलप्रतापादिकथनेन प्रभोरेव महिमोत्कर्षवर्णनं विशदीकृतम् । सापराधानां तामसाना मपि निजभक्तितत्पराणां परमानुग्राहको भवानेवेति ध्वनितम् । ननु भगवन्महिमवर्णना मारभ्य किमिति परमपापिष्ठानां दैत्यराक्षसादीनां कथोच्यते-इतिचेन्न । भगवत्पादपद्मप्रणिहितमनसां केषाञ्चि दपि स्मरणं विभो स्तोषकं स्मर्तृणाञ्च मङ्गलजनक मेवेति ।

रावणकृतं शिवताण्डवस्तोत्रं सुप्रसिद्ध मेव परन्तु बाणकृतशिवतोटक मपि स्कन्द पुराणस्थं द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

पुरन्दरस्यापि महासमृद्धां, समृद्धि मह्नाय महोन्नतां यत् ।
तिरश्चकार प्रबलप्रतापो, बाण स्स्वदासीकृतसर्वलोकः ॥
त्वत्पादपङ्केरुहसेवके तत्, तस्मिन्न वैचित्र्य मुपैति किञ्चित् ।
कृता त्वदर्थे शिरसो नति र्हि,कस्यो न्नति न्नैव करोति शम्भो! १३

भाषा टीका

(वरद !) हेवरदानोन्मुख ! (परिजनविधेयत्रिभुवनः) अपने दासोंके समान बनादिया है त्रैलोक्यमात्रको जिसने ऐसे (बाणः) बाणासुरने (यत्) जो (सुत्राम्णोऽपि) देवराज-इन्द्रकीभी (परमोच्चैः सतीं) बहुत बड़ी भारी (ऋद्धिं) समृद्धिको (अधश्चक्रे) नीचे करदिया (तत्) सो, वह (त्वच्चरणयोः) आपके चरणोंके (वरिवसितरि) प्रणामकरने वाले अर्थात् सेवक (तस्मिन्) उस बाणासुरके विषयमें (चित्रं न) कुछ आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि (त्वयि) आपके लिये (कस्य) किसजनका (शिरसः अवनतिः अपि) सिरका झुकाना भी (उन्नत्यै) अभ्युदयके लिए (न भवति) नहीं होता-अर्थात् सभी प्रणाम करने वालेका महोदय होता है । भाव यहकि—त्रैलोक्यविजयी बाणासुरने जो इन्द्रकी संपत्ति को तुच्छ समझकर नीचे करदिया सो तो कोई आश्चर्यकी

बात नही है, क्योंकि वह आपका परम उपासक था, पर साधारण जन भी आपके निमित्त सिरको नीचा करे तो बड़ी ऊंची उन्नति को प्राप्त करलेता है। यहां पर सिरके झुकानेसे ऊंची गतिका पाना वर्णन किया है-इससे विरोधालंकार तथा अतिशयोक्तिके सहित अर्थान्तरन्यास का समावेश स्पष्ट है पूर्वोक्त चारों श्लोकोंसे महादेवोपासक सत्त्वगुण—विशिष्ट विष्णु, रजोगुणी ब्रह्मा, और तमोगुणप्रधान रावण बाणासुरके उत्कर्षकी कथा सूचित करके भगवानकी बड़ी भारी महिमा दिखलायी है। इस पर रावणादिक असुर राक्षसोंके बल और प्रतापादिक वर्णन करनेसे पाप-कथाके उल्लेखका संदेह नहीं करना चाहिए-क्योंकि ईश्वरके चरणा-रविन्दकी उपासना करने वाले सबीलोगोंका स्मरण करना भगवानको भाता और मंगलको देताही है-इससे भगवानहीकी महिमाका प्रभाव सूचित किया गया है। क्योंकि जगदीश्वर अपनी अपेक्षा अपने भक्तोंकी बडाई सुनकर विशेष प्रसन्नहोते हैं, वे अपने सेवकोंको अपनेसे ऊपरही रक्खा चाहते हैं, जैसा कि कहा है—

"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।

और—

मोरे मन प्रभु अस विसवासा, रामते अधिक रामकर दासा"॥१२॥

भाषापद्यानुवादः

जो इन्द्रासनकी करी, ऊँची संपति नीच।
बाना-सुर कीहयो सबै, सेवक त्रिभुवन बीच॥
यह नहि अचरज ताहिलगि, तुव पद सेवत जोय।
काहि न उन्नत करत सिर, तुवहित अवनत होय॥ १३॥

भाषाबिम्बम्

करी इन्द्रासनकी तृन-सरिस सम्पत्ति महती,
बनायो दासोंसा सकल जग बानासुर बली।
तुह्मारे भक्तोंपे अचरज नही होत कछुभी,
प्रनामै कर्नेसे (में) लहत नहि को उन्नति भली (बडी)॥ १३॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्या सी द्य स्त्रिनयन विषं संहृतवतः ।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रिय महो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः॥१४॥

मधुसूदनी टीका

अधुना कालकूटप्रलयजलयोः संहारं दर्शयन्शंकरनारायणौ स्तौति—

अकाण्डेति। हे त्रिनयन, विषं समुद्रमथनोद्भूतं कालकूटाख्यं गरलं संहृतवतः पीतवतस्तव कण्ठे यः कल्माषः कालिमासीत्स कालिमा तव कण्ठे श्रियं शोभां न कुरुते किम्। अपि तु कुरुते एवेत्यर्थः। ननु भगवानतिशयितविशेषदर्शी महानर्थहेतुकं विषं किमिति पीतवानित्यत आह। अकाण्ड इति। अकाण्डेऽसमये ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयो विषोर्मिवेगात्संभावितस्तस्माच्चकिता भीता देवाऽसुरा इन्द्रबलिप्रभृतयस्तेषु कृपा दया तया विधेयस्य वश्यस्य। अन्यस्यैतत्पाने सामर्थ्यं नास्तीति विश्वत्राणाय विषं स्वयमेव पीतवानित्यर्थः। ननु विषविकारात्कल्माषः कथं कण्ठे शोभां तनोतीत्यत आह। अहो इत्यादि। अहो आश्चर्ये। भुवनभयभङ्गव्यसनिनः परमेश्वरस्य विकारोऽपि श्लाघ्यः प्रशंसनीयः। भुवनस्य लोकस्य भयं त्रासस्तस्य भङ्गो निरन्वयनाशः स एव व्यसनं सर्वमन्यद्विहाय क्रियमाणत्वाद्व्यसनं तदस्यास्तीति तथा तस्य। तेन जगदुपकृतिकृतं दूषणमपि भूषणमेवेत्यर्थः॥ *हरिपक्षे तु*। हे त्रिनयन त्रयाणां लोकानां नयनवत्सर्वावभासक, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' इति श्रुतेः। अकाण्डेऽकाले ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयः। दैनंदिनप्रलयजलपूरवेगात्संभावितस्तस्माच्चकिता ये देवासुराः स्वायंभुवमनुप्रभृतयस्तद्विषयककृपावशीकृतस्य तव विषं जलं 'विषं क्ष्वेडं विषं जलम्' इत्यादिकोशात्। तच्च प्रलयकालीनं यज्ञवाराहरूपेणावगाह्य पङ्कीकृत्य संहृतवतः शोषितवतः पङ्कव्यामिश्रणेन यः कल्माषो मलिनिमासीत्स कल्माषः इतो-

[illegible] अर्थात्स्तोतॄणां कण्ठे श्रियं शोभां न कुरुते इति न। अपितु कुरुत एवेत्यर्थः। अर्थान्तरन्यासः पूर्ववत् ॥ १४ ॥

संस्कृत टीका

(त्रिनयन !) हे त्रिलोचन ! (अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपाविधेयस्य) अकस्मादेव असमय एवेति वा, ब्रह्माण्डक्षयेण समस्तब्रह्माण्डगोलकविध्वंसेन, आकालिकप्रलयसम्भावनयेति यावत्, चकिताः विस्मयाविष्टा ये देवा असुराश्च तेषु कृपा विधेया कर्तव्या यस्य तस्य, अर्थात् परमकारुणिकस्य। तथा (विषं) क्षीरोदमथनोद्भूतं कालकूटं महाविषं (संहृतवतः) निर्गीर्णवतः, विषपायिन इत्यर्थः (तव) भवतः (कण्ठे) गलदेशे, यः (कल्माषः) कृष्णपाण्डुरो वर्णः। कलयतीति कल्–"क्विप्–"३।२।१७८। माषयत्यभिभवति वर्णान्तराणीति माषः "हन्त्यर्थाश्चे"–ति चुरादौ पाठात् णिच्–ततः कल् चासौ माषश्च कल्माषः। "कल्माषो राक्षसे कृष्णे शबले ऽपि"–ति हेमचन्द्रः। नीलिमेत्यर्थः। (आसीत्, स किं श्रियं न कुरुते ?) शोभां न करोति, इति (न) अपितु परमां श्रियं सम्पादयति। द्वौ नञौ प्रकृतार्थं [दाढ्र्यं] बोधकौ भवतः। क्वचित्तु [illegible] पाठ [illegible] विकारोऽपि श्लाघ्यः। (अहो !) युक्तमेवैतत्, (भुवनभयभङ्गव्यसनिनः) सकललोकत्रासनिवारणतत्परस्य पुरुषस्य (विकारोऽपि) महान् दोषोऽपि सर्वथा (श्लाघ्यः) स्तुत्य एव भवति॥ [illegible] ॥

[illegible]

"[illegible] !
[illegible]" ॥ [illegible] ॥

संस्कृतभावानुवादः

[illegible]

[illegible]

❈ भाषाटीका ❈

पूर्वोक्त चारों श्लोकोंमें भगवद्भक्तोंकी महिमाको प्रकट करके अब साक्षात् भगवानकी महिमाओंको आरंभ करते हैं। (त्रिनय-न) हे त्रिलोचन। (अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुर-कृपाविधेयस्य) अचानकही सचराचर ब्रह्मांडभरको नाश होता हुआ समझकर घबराये हुए देवता और असुरोंके ऊपर दयाके बशवर्ती होकर (विषं) क्षीरसागरके मथनसे उत्पन्न हुए कालकूट नामक महा-विषके (संहृतवतः) पीडालने वाले (तव) आपके (कण्ठे) कंठमेंजो (कल्माषः) नीलापन होगया है (सः) वह (श्रियं न कुरुते-इति-न) शोभाको नहीं करता है ऐसा नहीं है-अर्थात् बहुत बड़ी शोभाको बढ़ा रहा है (अहो)-आश्चर्यसूचक अव्यय पदहै। (भुवन-भय-भङ्ग-व्यसनिनः) समस्त संसारके भयोंको भंगकरदेने वाले व्यसनीका (विकारोऽपि श्लाघ्यः) विकार भी सर्वथा प्रशंसाहीके योग्य हैं-अर्थात् यहकि-यदि आप उस कालकूट विषको नहीं पीते तो समस्त संसारही उससे भस्म होजाता अतः देवता दैत्योंका भेद त्यागकर आप बड़ी दया करके उसे पीकर स्वयं नीलकठ वनगये, इससे आपकी शोभा कुछ घटी नही वरन औरभी बढगई, क्योंकि जो कोइ और सब कामोंको छोड अपने सुखको त्यागकर संसारमात्रके भयको दूर करनेमें एकाग्र चित्तसे लगजाता है उसका विगडजानाभी प्रशंसितहो होता है। यही भाव स्पष्ट है जैसाकि कहाभी है।

"परहित लागि तजजेदेही। संतत संत प्रसंसहि तेही" ॥

"जरत सकल सुरवृंद, विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजासि मतिमंद. को दयाल संकर सारिस" ॥ (तु०रा०)

❈ भाषापद्यानुवादः ❈

अनायास (विनहि काल) ब्रह्मांड छय,-चाकित सुरासुर देखि।
कालकूट विष पीलियो, तुम करि कृपा विसेषि ॥
सो नीलापन कंठमें, तुमरे सोभा देत।
भव भय भंजन व्यसनिकर, विकृति प्रसंसा हेत ॥ १४ ॥

॥ भाषाबिम्बम् ॥

अनाथासे लोकै भसम करिदेतो लखि विषै,
उठाके पीलीहृयो तुम-करि दया दैत्य सुरपै ।
वही सोभा काला (नीला) पन लगिकरै कंठतल (मनि) मो,
विकारो गावै है जगत भयहारी-व्यसनिको ॥ १४ ॥

असिद्धार्था नैव क्वचि दपि सदेवासुरनरे
निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः ।
स पश्य न्नीश त्वा मितरसुरसाधारण मभूत्
स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः १५

॥ मधुसूदनी टीका ॥

अथ कामस्य जानेनिधने दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

असिद्धार्था इति। हे ईश, यस्य स्मरस्य विशिखा बाणाः सदेवासुरनरे जगति देवासुरनरादिसहिते त्रैलोक्ये जयिन उत्कृष्टाः क्वचिदप्यसिद्धार्था अकृतकार्या न निवर्तन्ते। अपि तु सिद्धार्था एव नित्यं जयिन एव भवन्ति। जयिन इति स्मरस्य वा विशेषणम्। नित्यं जयशीलस्येत्यर्थः। स एतादृशपौरुषवानपि स्मरः यथान्ये देवा मम जय्यास्तथाऽयमपीतीतरदेवतुल्यं त्वां पश्यन् स्मर्तव्यात्माभूत् स्मर्तव्यः स्मरणीय आत्मा शरीरं यस्य स तथा। नष्ट इत्यर्थः। पश्यन्निति हेतौ शतृप्रत्ययः। लक्षणहेतो च शतुः स्मरणात्। 'तद्वै तत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे' इतिवत्। तेनेतरदेवसाधारणत्वेन त्वद्दर्शनमेवाव्यवधानेन विनाशहेतुः का वार्ता परिभवादेरिति भावः। तत्र कैमुतिकन्यायमाह। नहीत्यादि। हि यस्माद्वशिषु जितेन्द्रियेष्वन्येष्वपि परिभवस्तिरस्कारः पथ्यो हितो न भवति। स्वनाशायैव संपद्यत इति यावत्। किं पुनः परमवशिनां वरे परमेश्वरे त्वयी त्यर्थः॥ हरिपक्षे तु। हे इतरसुरसर्वविलक्षण देव, पूर्वं स्मर्तव्यात्मा स्मृतोऽपि स्मरः कामस्त्वां पश्यन्नभूज्जातः। त्वत्सकाशा-

ज्ञात इत्यर्थः । पितैव खलु पुत्रं जातमात्रमवलोकयति, अतः पुत्रो-ऽपि तमेवावलोकयतीति पश्यन्नभूदित्यनेन जन्यजनकभावो लभ्य-ते । कथं जातः । साधारणं तव तुल्यरूपं यथा स्यात्तथा । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । तर्त्कि सर्वांशेन भगवत्तुल्यः, तथा च 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः', न तत्समश्चाभ्यधिकश्च वि-द्यते' इत्यादिश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य वैलक्षण्यमाह । नहीत्यादि । वशिषु जितेन्द्रियेषु हि यस्मात्स्मरो न पथ्यो न हितः । तत्र हेतुः परिभवः परिभवत्यनर्थं योजयतीति परिभवः कामः । स खलु स-र्वेषां संसारबन्धहेतुः, परमेश्वरस्तु सर्वेषां संसारबन्धस्यात्यन्तो-च्छेदहेतुरिति महद्वैलक्षण्यमित्यर्थः। असिद्धार्था इत्यादि पूर्ववत्॥१५॥

संस्कृत टीका

(ईश !) ईष्टे इति ईशः-तत्सम्बुद्धौ,-"इगुपधत्वात्-३।१।३५ कः" हे स्वामिन् ! (यस्य) कामस्य (विशिखाः) बाणाः (सदेवासुर-नरे) देवदानवमनुष्यादिसमन्विते, स्वर्गपातालमर्त्यलक्षणे, समस्ते (जगति) संसारे (क्वचिदपि) कुत्रचिदपि (असिद्धार्थाः) अकृत-प्रयोजनाः व्यर्था वा (नैव) सर्वथा नहि (निवर्तन्ते) किन्तु कृत कृत्या एव प्रत्यागच्छन्ति, अत एव (नित्यं) सर्वदा (जयिनः) विजयिनः सन्ति । 'जयिन'-इति पदन्तु 'यस्ये' तिपदस्यापि विशेष-णत्वमिच्छति । (स स्मरः) प्रसिद्धः कामदेवः-"कामः पञ्चशरः स्मर-" इत्यमरः । (त्वां) भवन्तं (इतरसुरसाधारणं) अन्यसामा-न्यदेवसदृशं (पश्यन्) विलोकयन्, विचारयन्, सन् वा (स्मर्त-व्यात्मा) स्मरणीयशरीरः, अनङ्ग इत्यर्थः (अभूत) बभूव । विनष्टो ऽभूदिति यावत् (हि) यस्मात्कारणात् (वशिषु) जितेन्द्रियपुरु षेषु (परिभवः) अनादरः,तिरस्कारदृष्टि रिति वा (न पथ्यः) पथो ऽनपेतः पथ्यः-"धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते-" ४।४।९२ इतियत् । कदापि सुखकारी नहि भवतीति । अत्र प्रसिद्धो मदनदहनमाहिमा वदातो यथोक्तश्च महाकवि कालिदासेन "कुमारसम्भवा" ख्ये काव्ये—

"क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति, यावद्गिरः खे मरुता श्चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा, भस्मावशेषं मदनं चकार" ॥ १५ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

स्वलक्ष्यहीनाः क्वचिदेव नासन्, मनुष्यदेवासुरमण्डलेषु ।
बाणा यदीया जयिनो जगत्सु, सिद्धाः सदा नैव कदाप्यसिद्धाः ॥
स कामदेवोऽ न्यसुरैः स्समानं, सामान्यरूपेण विलोकयन् त्वाम् ।
अनङ्गतां प्राप जितेन्द्रियेषु, अनादरो नैव कदापि पथ्यः (कार्य्यः)॥१५॥

भाषा टीका

(ईश !) हेनाथ ! (यस्य) जिस कामदेवके (विशिखाः) बाण (सदेवासुरनरे) स्वर्ग-पाताल और मर्त्यलोकके रहने वाले देवता दैत्य और मनुष्योंके सहित (जगति) ब्रह्मांडमें (क्वचिदपि) कहींपर भी (असिद्धार्थाः) अपने कार्यको विना साधे (नैव निवर्त्तन्ते) कदापि लौटतेही नहीं हैं एवं (नित्यं जयिनः) सर्वदा विजयशालीही बने रहते हैं । (स स्मरः) वही कामदेव (त्वां) आपको (इतरसुरसाधारणं) दूसरे सब सामान्य देवतोंके समान (पश्यन् [सन्]) देखता हुआ अर्थात् एक साधारण देवतासा समझता हुआ (स्मर्तव्यात्मा) स्मरणकरनेके योग्य है शरीर जिसका, अर्थात् अनङ्गही (अभूत्) होगया, (हि) क्योंकि (वशिषु) जितेन्द्रिय लोगोंमे (परिभवः) अनादर करना (पथ्यः न) उचित, अथवा सुखकारी नहीं होता-अभिप्राय यहकि जिस कामदेवके बाण समग्र ब्रह्मांडमे कभी व्यर्थ नही होते वरन सदैव विजयी बनेरहते हैं ऐसा महाधनुर्धर वह कामदेवभी आपको साधारण देवतासासमझ आपकी दृष्टि फिरते ही जलकर छार होगया-अर्थान्तर न्याससे बातको पुष्ट करते हैं कि-सच है जितेन्द्रिय पुरुषोंके अपमान करनेका ऐसाही फल मिलता है-यह कथा प्रायः सभी पुराणोंमें पाई जाती है वरन शिव पुराणमें तो इसका बडा विस्तार है-जिसका कुछ थोडासा अंश गो० तुलसी दासजीने अपने रामायणके बालकांडमें भी अनुवादित किया है-उसीके अंतमें यह लिखा है-यथा—

"भयउ ईस मन छोभ विसेषी,
नयन उघारि सकल दिसि देखी ।

सौरभ पल्लव मदन विलोका,
भयउ कोप कंपेउ त्रय लोका ।
तब सिव तीसर नयन उधारा,
चितवत काम भयउ जरि छारा ।
हाहाकार भयउ जग भारी,
डरपे सुर भे असुर सुखारी-इत्यादि" (तु० रा०) ॥ १५ ॥

भाषापद्यानुवादः

देवा-सुर-नरमें कतहुँ, कबहुँ न होइ असिद्ध ।
जाके लौटत (फिरते) बान नहि, विजयी जग परसिद्ध॥
भो अनगं सो काम लखि, तुहि सब देव समान ।
होत जितेन्द्रिन पै नहीं, हितकारी अपमान ॥ १५ ॥

भाषाबिम्बम्

विना काजे साधे कतहुँ नर-देवा-सुरन में,
नहीं लौटे आवैं कबहुँ विजयी बान जिहिके ।
भयो कामै छारो इतर सुरसो बूझि तुमको
जितेन्द्रीसे ढीठापनहु (न) सुखकारी कहुँ भयो ? ॥ १५ ॥

मही पदाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णो र्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम् ।
मुहु र्द्यौ र्दौस्थ्यं यात्य निभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता ॥१६॥

मधुसूदनी टीका

अथ जगद्रक्षणार्थे नर्तनावतरणे दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

महीति । हे ईश, जगद्रक्षायै त्वं नटसि नृत्यसि । संध्यायां जगन्ति जिघांसन्तं वरलब्धतत्कालबलं महाराक्षसं निजताण्डवेन मोहयसीत्यर्थः । त्वं तु जगतां रक्षायै नृ(१)त्यसि, जगन्ति तु त्वत्ता-

१. 'नटसि' इति पाठः ।

ण्डवेन संशयितानि भवन्तीत्याह। महीत्यादि। तव चरणाघातेन सहसा संशयपदं संकटं मही व्रजति। तथा विष्णोः पदमन्तरिक्षं भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणं भुजा एव परिघाः अतिसुवृत्तपीवर-दृढदीर्घत्वात्तैर्भ्राम्यद्भिर्भुजरूपपरिघैः रुग्णाः पीडिताः ग्रहगणा नक्षत्र समूहा यत्र तत्तथा संशयपदं व्रजतीत्यर्थः। तथा द्यौः स्वर्लोकः अ-निभृता असंवृत्ता या जटास्ताभिस्ताडितं तटं प्रान्तदेशो यस्याः सा तथा मुहुर्दौःस्थ्यं दुःस्थत्वं याति एवं च क्रमेण त्रयाणां लोकानामपि संशयो दर्शितः। नन्वसौ सर्वज्ञोऽप्यपायमपर्यालोचयन्नेव किमित्येवं-विधताण्डवे प्रवृत्त इत्यत आह। नन्विति। ननु अहो विभुता परम-महत्ता। प्रभुतेति यावत्। वामैव प्रतिकूलैव। अनुकूलमाचरत्यपि किञ्चित्प्रतिकूलमवश्यमाचरतीत्येवशब्दार्थः। दृश्यते हि स्वल्पकेऽपि राजनि स्वदेशरक्षणाय सेनया सह संचरति स्वदेशोपद्रवः, किमुत तादृशे महेश्वर इत्यर्थः। हरिपक्षे तु। हे ईश, त्वं जगद्रक्षार्थे नटसि नटवदाचरसि। नटशब्दादाचारार्थे क्विपि प्रत्ययलोपे नटसीति रूपम्। मत्स्यादिभूमिकां भजसीत्यर्थः। कस्यामवस्थायां जगद्रक्ष-णार्थमवतरणमित्युच्यते। महीपादित्यादि। महीं पातीति महीपो रा-जा तस्मादाघातात्सा मही सह समकालमेव संशयपदं व्रजति। आ समन्ताद्घातो नाशोऽस्मादित्याघातो हिंस्रः। तथा च यदैव हिं-स्रस्य राज्यं तदैव संकटं व्रजतीत्यर्थः। तथा च विष्णोः पदमधिष्ठानं यत्र भगवान्विष्णुः स्वविभूतिभिः सह पूज्यते तद्विष्णोः पदं देवयज-नाख्यं यज्ञशालादि। तत्कीदृशम्। भ्राम्यद्भिर्भुजस्थपरिघैर्भुजरूपप-रिघैर्वा रुग्णो भग्नो ग्रहगणः सवित्रादिरूपः सोम(१)पात्रसमूहो यत्र तत्तथा यागादिशुभकर्माणि यदा ध्वस्यन्ते तदेत्यर्थः। तथा द्यौर्दौः-स्थ्यं याति। अनिभृतजटाः पाखण्डव्रतचिन्हभूतास्ताभिराताडितं अभावमिव गमितं तटं तुङ्गं पदं सत्यलोकाख्यं यस्याः सा तथा। पाखण्डिभिर्हि वैकुण्ठलोकोऽपि नाङ्गीक्रियते किं पुनरिन्द्रादिलोक इत्यर्थः। यदा चैवं तदा त्वं नटवदाचरसीत्यर्थः। तथाच भगवद्वचनं गीतासु–'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमध-र्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥' इति। श्रीभागवते च–'यर्ह्यालयेष्वपि

---

(१) 'पात्रविशेषसमूहो' इति पाठः।

सतां न कथा हरेः स्युः पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः । स्वाहास्वधावषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान्युगान्ते ॥' इत्यादि । नन्विच्छामात्रेणैव जगन्ति रक्षितुं क्षमोऽपि किं मत्स्यादिरूपैः क्लिश्यतीत्यत आह । नन्वित्यादि । ननु निश्चितं विभुता विभववत्ता । संपन्नतेति यावत् । वामैव वक्रैव । सत्यप्यृजौ प्रकारे वक्रेणैव प्रकारेण स्वसंपत्तिं सफलयितुं संपन्नः कार्यं करोतीत्यर्थः । तेनाष्टविधमैश्वर्यमौ(१)त्पातिकं दर्शयन्भक्तानामभिध्यानाय तानि तानि श्रवणमनोहराणि चरितानि तेन तेनावतारेण धत्ते भगवानिति भावः ॥ १६ ॥

❀ संस्कृत टीका ❀

हे विभो ! यदा (त्वं जगद्रक्षायै) जगतां रक्षणाय, रक्षसाञ्च प्रतारणाय (नटसि) नृत्यसि, नाट्यं करोषि। तदा (मही) भूमिः। "क्ष्मा वनि मेंदिनी मही"–त्यमरः । मह्यते इति महिः—"अचः इः"–४।१।३९–उ० । "कृदिकारादक्तिनः"–४.१।४५–ग०–इति ङीष् । "वीचिः पङ्क्ति मेंहिः केलि रित्याद्या ह्रस्वदीर्घयो"–रितिवाचस्पतिः। भूर्लोको वा। लोको यथा ऋग्वेदे–३ ५६।२–"तिस्रो महीरुपरा स्तस्थुः"–महीः लोकाः] इति तद्भाष्ये सायनाचार्य्यः। (पादाघातात्) चरणविन्यासरूपताडनात् (सहसा) झटिति (संशयपदं) उत्पतति अथवा अधः प्रयातीति सन्देहस्थानं (व्रजति) गच्छति। तथा च (विष्णोः पदं) आकाशं, भुवर्लोको वा–"वियद्विष्णुपदं वापि पुंस्या काशविहायसी–"त्यमरः (भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणं)–सञ्चालितबाहुरूपपरिघै रवरुद्धो भग्नो वा नक्षत्रवर्गो यस्मिन् तत् तथा भवति। अर्थाद् भुजपरिचालनकर्मणैव ग्रहगणसमूहो भुग्नो भवति। एवं (द्यौः) स्वर्गः स्वर्लोक इत्यर्थः (मुहुः) वारं वारं (अनिभृतजटाताडिततटा) असंघृतजटाकलापैस्ताडितं तटं प्रान्तभागो यस्याः सा-तथोक्ता सती (दौस्थ्यं) दुःस्थत्वं दुःखस्थत्वं वा (याति) प्रयाति (ननु) इति वितर्के (विभुता) वैभव मैश्वर्य्यं तु (वामैव) प्रतिकूलैव भवति। तर्हि त्वन्तु जगद्रक्षार्थमेव नटसि,

(१) 'ऐश्वर्यमात्यायिक' इति पाठः।

परन्तु तेन कर्मणा भूर्भुवःस्वर्लोकानां सर्वेषाञ्च प्रलय एवोत्पद्यते, तत स्त्वत्ताण्डवं विनाशकर मिति चेन्न।

प्रलयाग्निशिखादग्धं, पुन रुत्पद्यते जगत्।
प्रकृष्टलयसंयुक्तं, प्रलयं ताण्डवं विभोः (हि तत)॥१॥

क्षेत्रेषु धान्यलवनं, शराणां मूलदाहनम्।
बीजाङ्कुरादिकृद्ध्यर्थं, जायते दृश्यते स्फुटम्॥ २॥

ताण्डवाडम्बर स्तद्व, त्प्रलयानलतापितान्।
परमाणू न्प्रकुरुते, सृष्टियोग्या न्पुनः स्वयम्॥ ३॥

अतोऽस्य नर्तनं लोक-रक्षायाः कारणं परम्।
विचारणीयं विद्वद्भि-र्महामङ्गललक्षणम्॥४॥ इतिदिक्॥१६॥

संस्कृतपद्यानुवादः

व्रजति संशयतां सहसा मही, चरणताडनतो भवतो विभो!।
भुजलताविहता ग्रहतारका, गगनमध्यगता विंतता द्रुतम्॥
भजति दौस्थ्य मथो त्रिदशालयो, निभृतशुद्ध (भ्र) कपर्दतटाहतः।
नटसि य ज्जगता मभिगुप्तये, कठिनता मुपयाति हि वैभवम्॥१६॥

भाषा टीका

हे भगवन्! जब कभी (त्वं) आप (जगद्रक्षायै) संसार की रक्षाके लिए (नटसि) तांडव करते हैं, अर्थात् नाचने लगते हैं, तो (मही) पृथिवी, अर्थात् भूलोक (पादाघातात) पैरोंके चोट से (सहसा) तुरतही (संशय पदं) संदेह की भूमी, अर्थात कभी तो ऊपरको उभड़ आती है और फिर नीचेको धँस जाती है इस कारणसे संदेह पदको (व्रजति) चली जाती है। (विष्णोः पदं) आकाशमंडल, अथवा भुवर्लोक (भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणं) [भवति] घूमते हुए बाहुरूप परिघों [बेंवडों] से रुकगये हैं ग्रह गण जिसमें-ऐसा हो जाता है। अर्थात् आपके हाथ हिलाने से ग्रह और नक्षत्रादिकों की गति रुकजाती है। तथा (द्यौः) स्वर्गलोक (मुहुः) बारं बार (अनिभृतजटाताडिततटा) [सती] निरंतर जटाओं से टक्कर खा रहा है कोर जिसका-ऐसा होकर (दौस्थ्यं)

दुरवस्थताको (याति) प्राप्त होता है। ऐसा क्यों होता है ? इसपर कहते हैं कि-(ननु विभुता वामा एव) अहो ! वैभव तो टेढा होताही है। भाव यह है कि आपतो संसारकी रक्षाहीके लिये तांडव करते हैं पर उससे तीनोंही लोकोंकी दुर्दशा होने लगती है क्योंकि ऐश्वर्य्य तो सदा प्रतिकूल होताहीहै। इसपर यह शंका होती है कि सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होकर जो महादेवजी संसार के हितके लिए नाचते हैं उससे ब्रह्मांडभरका नाशही होने लगता है, तो फिर उनका नाचना भला कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि- भगवान् जब नाचते हैं तो उनके तांडवहीसे प्रलयानल उत्पन्न होकर सारी सृष्टि को भस्म कर देता है-फिर उसी भस्म होने के कारणसे पृथिवी-इत्यादि पांचों भूतों के परमाणु सृष्टिके लिये विशेष उपयुक्त हो जाते हैं, जैसे कि सरहरी का जुट्टा फूंक देनेसे विशेष पनफने लगता है-उसी भांति महारुद्रके तांडव से सृष्टिकार्य का विशेषतः उपकारही होता हैं-पर जो हानि देख पड़ती है उसका कुछ दूसरा कारण नहीं है केवल इतनाही भर समझलेना चाहिए कि-ऐश्वर्यशाली लोगोंके प्रबंध करने में प्रायः बहुतेरी बातों का उलट फेर हुआही करता है। अतः शिवजीके तांडव से संसारकी रक्षाही होती है-यह सिद्ध है।

एतद्भिन्न यह बात प्रत्यक्ष है कि, साधारण राजे महाराजे लोग भी जब अपने देश अथवा राज्यके रक्षणावेक्षणके लिये दौरा पर जाते हैं तो प्रजालोगों का हित तो ऐसाही तैसा होता है पर भारी संकटका सामना करना पड़ता है थोड़े दिन हुए कि हमारे वर्तमान महाराजपंचम जार्ज प्रिंस आफ वेलस रूपसे-जब भारतवर्षमें पधारे थे तब उनकी सवारीनिकालनेके प्रबन्धमें मासों पूर्वहीसे वनारसमें कितनेही लोगोंका मार्ग चलना रोकदिया जाताथा-फिर अबभी छोटे मोटे कर्मचारी गण प्रतिवर्ष शीतकाल में प्रजा (रैयत) लोगोंके सुवीतेहीके लिये अपने प्रान्तके ग्राम्यप्रदेशों (देहातों) में दौरा करने जाते हैं-उनका अभिप्राय प्रजाओंको सुख (आराम) देनेहीका है, पर प्रजागणको जो जो सुख अथवा दुःख प्राप्त होते हैं--उसे वेही लोग समझसकते हैं जिन्हे कभी दौरा में अपने

विचार (मोकद्दिमे) के लिए जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा- क्योंकि न तो वहां खाने की सामग्रीही मिलती है, न रहनेके लिए कहीं ठिकाना लगता है फिर सहायक (वकीलमुखतारों) का वेतन (फीस) और यान (एका) की भृति (कराया) तो दूनेसे कभी घटती ही नहीं तो कहिए जब साधारण मनुष्यों के ऐश्वर्य का ऐसा टेढा फल चखना पड़ता है तो उस सर्वाधिष्ठाता देवाधिदेवके तांडवसे त्रैलोक्य मात्रका थल उथल होजाना क्या असम्भव है ? इसीलिए कहागया है कि—"ननु वामैव विभुता")

भाषापद्यानुवादः

पदाघातते अवनितल, संसय (संकट) भगो लखात ।
नभ भाँजत (घूमत) भुज परिघ लगि, तारागन रुकिजात ॥
होत जटा फटकारते, सरग (स्वर्ग) दुखी बहुवार ।
जग रच्छा लगि (हित) नटहु पै, वैभव कठिन विकार ॥१६॥

भाषाविम्बम्

लगेते पैरोंके धरनितलमें संसय छये, (६)
उठाये हाथों के गगनमहँ तारा रुकिगये (६) ।
जटाके फट्कारे सरग सगरो खल्वल मची,
जगत्-रच्छा लागी (हेतू) नटहु विभुता टेढिहि रची१६॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः
प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्टः शिरसि ते ।
जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृत मि-
त्यनेनै वो न्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

मधुसूदनी टीका

अथ गङ्गाया उद्धरणधारणे दर्शयन्हारिहरौ स्तौति—

वियदिति । हे ईश, अनेनैव लिङ्गेन तव दिव्यं दिवि भवं सर्वदेवनियन्तृ वपुः शरीरं धृतमहिम सर्वेभ्यो महत्तरं उन्नेयमूहनीयम् । तव वपुषः सर्वमहत्तरत्वमेतावतापि निश्चेतुं शक्यं किमिति

प्रमाणान्तरमत्रापेक्षितव्यमिति एवकारार्थः । इतिशब्दः प्रकारार्थे । एवंप्रकारेण लिङ्गेनेत्यर्थः । तमेव प्रकारं दर्शयति । वियदित्यादि । वियदाकाशं व्याप्नोत्याच्छादयतीति तथा तारागणेन नक्षत्रवृन्देन स्वान्तःपातिना गुणिता शुभ्रत्वादिगुणसजातीयत्वाद्वर्धिता फेनोद्गमरुचिर्यस्य स तथा एतादृशो वारां प्रवाहः स तव शिरसि पृषतलघुदृष्टः पृषताद्बिन्दोरपि लघुरल्पतरः पृषतलघुः स इव दृष्ट आलोकितः । तेन तु वारां प्रवाहेण जलधिवलयं जगद्द्वीपाकारं कृतं जलधीनां वृन्दं जगद्भूलोको द्वीपाकारं जम्बूद्वीपादिसप्तकरूपं यस्मिंस्तथा विहितम् । 'अगस्त्येन हि सप्तसु समुद्रेषु पीतेषु पुनर्भगीरथानीतगङ्गाप्रवाहेणैव तेषां पूरणं जातम्' इति पुराणप्रसिद्धम् । तथाच यो जलराशिस्तव शिरसि बिन्दोरप्यल्पो दृष्टः स एवात्र कियान्मन्दाकिनीनाम्ना वियद्व्याप्यास्ते, कियान्भागीरथीति गङ्गेति च प्रसिद्धो भूलोके सप्तसमुद्रानापूर्यास्ते, कियांस्तु भोगवतीति संज्ञया पातालमभिव्याप्यास्ते इत्यनेन तव दिव्यवपुषो महत्त्वमनुमीयते इत्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । तारागणैर्गुणिताः फेना यस्याः सा तारागणगुणितफेना गङ्गा तस्या उद्गमे उद्भवे रुचिः शोभा यस्य स तथा शिरसि सर्वलोकानां शिरःस्थानीये ब्रह्मलोके बलिछलनोत्क्षिप्तचरणाङ्गुष्ठनिर्भिन्नब्रह्माण्डविवरादागतो गङ्गोत्पत्तिहेतुर्वियद्व्यापको यो वारां प्रवाहः स ते त्वया पृषतलघुदृष्टः बिन्दोरपि लघुदृष्टः । बिन्दोरपि लघु यथा स्यात्तथोपलब्ध इत्यर्थः । अनेनैव लिङ्गेन च तव दिव्यं वपुः बलिछलनार्थं दिव्याकारो आविर्भावितं त्रैविक्रमं रूपं धृतमहिमोन्नेयम् । शेषं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

संस्कृत टीका

हेभगवन् ! (वियद्व्यापी) आकाशवद् व्यापनशीलः (तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः) तारागणो नक्षत्रसमूह स्तेन गुणिता उपमिलिता तद्वत्तां प्रापितेति यावत्-फेनोद्गमस्य हिंडीरोत्पत्तेः रुचिः शोभा यस्य स एतादृशः (यः) प्रसिद्धः (वारां) जलानां-"आपः स्त्री भूम्नि वा र्वारि" त्यमरः (प्रवाहः) स्रोतः ओघो वा (ते) तव (शिरसि) शिरः स्थितजटाजूटे-इत्यर्थो लक्षणया । (पृषतलघुदृष्टः) विन्दुसदृशसूक्ष्मरूपो विलोकितः-"पृषन्ति बिन्दुपृषताः-"

इत्यमरः। (तेन) प्रवाहेण (जलधिवलयं) समुद्ररूपपरिखावेष्टितं (जगत्) भुवनं (द्वीपाकारं) भूखण्डसदृशं (कृतं) विनिर्मितं (अनेनैव) हेतुना (नव) भवतः (दिव्यं) सर्वोत्कृष्टं (वपुः) शरीरं (धृतमहिम) महामहिमशालि, केचि त्तत्सम्बुद्धिपद मेत दित्याहुः। तत्र धृतो महिमा सर्वज्ञत्वं सर्वकर्तृत्व ञ्च येनेति योज्यम्। (इति) एवं विधं (उन्नेयं) ऊहनीयं बोध्य मित्यर्थः। कदाचि दगस्त्यमुनिना पीते समुद्रे शुष्कता ङ्गते सति शिवशिरःस्थितया विन्दुरूपता मभिगतया गङ्गयै वापूर्यमाणः सागरो जगत्परिखारूपो वरीवर्ति। इमा मेव पौराणिकीं कथा मवलम्ब्ये दं गङ्गाधररूपमहिमवर्णनं सुष्ठुकृत मिति विचारणीयं विद्वद्भिरिति एव मेवोक्तं च स्कन्दपु० माहेश्वर—कौमारिकाखण्डे ३३ अ०—

"वियद्व्यापी सुरसरि त्प्रवाहो विप्रुषाकृतिः।
बभूव यस्य शिरसि कस्तस्मात्परमो भवेत्" ॥२३॥ इति ॥१७॥

संस्कृतपद्यानुवादः

यो व्योमवद् व्यापकशीलता ङ्गत,-स्तारागणाशङ्कित (वर्धित) फेनकान्तिमान्।
वारिप्रवाहो लघुविन्दुरूपधृक्, शम्भो! जटाजूटतटे तवे क्षितः॥
कृतं जग त्तेन समुद्रवेष्ट्यं, द्वीपस्वरूपं जलमध्यवर्त्ति।
महामहिम्ना महितं त्वदीय, मनेन दिव्यं वपु रूहनीयम् ॥१७॥

भाषा टीका

हे स्वामिन्! (वियद्व्यापी) आकाशके समान सर्वत्र भरा रहने वाला (तारागण गुणितफेनोद्गमरुचिः) नक्षत्र समूहसे गुनी गई है फेनके निकलनेकी शोभा जिसकी-ऐसा (यः) जो (वारां प्रवाहः) जलोंका स्रोत (ते शिरसि) आपके मस्तक पर अर्थात् जटाजूटमें (पृषतलघुदृष्टः) बूंदके समान छोटासा देखपडता है (तेन) उसी प्रवाहसे (जलधिवलयं) समुद्रसे घेराहुआ (जगत्) संसार (द्वीपाकार) द्वीपके आकारका अर्थात् द्वीपरूप (कृतं) करदिया गया (अनेनैव) एक इसी कारणसे (धृतमहिम दिव्यं) बडी भारी महिमाको धारणकिये हुए, परमदिव्य (तव वपुः)

आपका शरीर (ऊहनीयं) समझनेके योग्य है। शिवपुराणादिकोंमें यह कथा प्रसिद्ध है कि जब अगस्त्य मुनि सब समुद्रोंको पीगये तो राजर्षि भगीरथके साथ आकर श्री गंगाजीने अपनेही प्रवाहसे उन सबको पूरा किया—वही बात इस श्लोकमें दिखलाई गई है। तात्पर्य्य यह कि जो जल आपकी जटामें एक बूंदसा झलकता है उसीसे सब समुद्र भरगये जिनसे यह जगत् टापूके समान बनगया-वस इसीसे आपके शरीरकी महिमा प्रकट है। यह गंगाधर रूपकी महिमा कही गई है-गङ्गाजीका वर्णन यद्यपि रामायणमें कई स्थानों पर मिलता है परयहां पर केवल इतनाही उद्धृत कियाजाता है—

"गङ्ग सकल मुद मङ्गल मूला,
सब सुख करनि हरनि भव सूला।
कहि कहि कोटिक कथा प्रसङ्गा,
राम विलोकत गङ्ग तरङ्गा ॥" (तुः रा०) ॥ १७ ॥

भाषा पद्यानुवाद,

तारा गन सम फेन रुचि, व्यापक मनहुँ अकास।
लखियत तुमरे सीस पै, जल लघु बूंद विलास ॥
अंबुधि-परिखा द्वीपसम, तासो जगत घिराय।
याते तुव बपु दिव्यकी, महिमा जानी-जाय ॥ १७ ॥

भाषा विम्बम्

अकासैमें फैली ग्रहगन-रुची फेन-उबली,
जलों की जो धारा तुव सिरसि बून्दों सम लखी।
वहीते द्वीपों (टापू) सा जगत जलधीवेष्टित भयो,
यहीसे जानी है वपुष—महिमा दिव्य तुमरो ॥ १७ ॥

रथः क्षोणी यन्ता शतधृति रगेन्द्रो धनु रथो
रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति ।
दिधक्षो स्ते कोऽयं त्रिपुरतृण माडम्बरविधि-
र्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः॥१८॥

✤ मधुसूदनी टीका ✤

अथ लङ्कात्रिपुरदाहौ दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

रथ इति हे ईश ! त्रिपुरतृणं दिधक्षोस्तव कोऽयमाडम्बरविधिः त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं तदेव तृणं अनायासनाश्यत्वात् । तद्दग्धुमिच्छोस्तव केयं महत्प्रयोजनमुद्दिश्यैव संभ्रमरचना । नहि लौकिका अपि नखच्छेद्ये कुठारं परिगृह्णन्ति, अतस्तवात्यल्पे प्रयोजने न महान्प्रयास उचित इत्यर्थः । आडम्बरविधिमेव दर्शयति । रथ इत्यादि । क्षोणी पृथ्वी रथरूपेण परिणता, शतधृतिर्ब्रह्मा यन्ता सारथिः, अगेन्द्रः पर्वतश्रेष्ठो मेरुः धनुः कोदण्डं, सोमसूर्यौ द्वे चक्रे, रथचरणं चक्रं तद्युक्तपाणिर्विष्णुः शरो बाणः, चतुर्थवाक्ये श्रुतोऽप्यथोशब्दः सर्वत्र वाक्यभेदाय योजनीयः । इतिशब्दः प्रकारार्थः । त्रिभुवनमपीच्छामात्रेण संहरतस्तवैवंप्रकारेण सामग्रीसंपादनमाडम्बरमात्रमित्यर्थः । एवमाक्षिप्य परिहारमाह । विधेयैरित्यादि । खलु निश्चितं प्रभोरीश्वरस्य धियो बुद्धयः संकल्पविशेषाः परतन्त्राः पराधीना न भवन्ति, अपि तु स्वतन्त्रा एव । ताः कीदृश्यः । विधेयैः स्वाधीनैः पदार्थैः क्रीडन्त्यः खेलन्त्यः । नहि क्रीडायां प्रयोजनाद्यपेक्षास्ति । तस्माद्विचित्राणि वस्तूनि स्वाधीनतया क्रीडासाधनीकृत्य क्रीडतस्तव सर्वाणि कार्याणि स्वेच्छामात्रेण कर्तुं क्षमस्य लौकिकवैदिकनियमानधीनबुद्धेर्न किञ्चिदप्यनुचितमित्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । त्रीणि त्रिकूटगिरिशिखराणि पुराण्याश्रयो यस्येति त्रिपुरं लङ्कापुरं तदेव तृणं तद्दग्धुमिच्छोस्तव कोऽयं श्रीरामरूपेण सुग्रीवसख्यसमुद्रबन्धनादिश्चाडम्बरविधिः । रथः क्षोणीत्यादिरूपकं । क्षोणीव रथः, शतधृतिरिव यन्ता, अगेन्द्र इव धनुः, चन्द्रार्काविव रथचक्रे, रथचरणपाणिरिव शरः, स्वतुल्यवीर्यो बाण इत्यर्थः । क्षो-

ण्यादिसदृशरथाद्युपादानमेतादृशात्यल्पप्रयोजनायापेक्षितुमुचितं न भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥ १८ ॥

संस्कृत टीका

हेप्रभो ! (त्रिपुरतृणं) त्रयाणां पुराणां समाहार स्त्रिपुरं, तदेव-तृण मिव अतितुच्छ मित्यर्थः (दिधक्षोः) दग्धु मिच्छोः (ते) तव (अयं कः आडम्बरविधिः ?) किं प्रयोजन मुद्दिश्ये यं संभ्रमरच-ना, आयास इति वा । अत्यल्पे ऽपि कार्ये किमिति महा न्प्रयासः स्वीकृत इति यावत् । त मेवा डम्बरविधिं विवृणोति-(क्षोणी) पृ-थिवी-“क्षोणि ज्र्या काश्यपी क्षिति”-रित्यमरः । (रथः) यानं, रथ-रूपा कृता, एवमेव (अथो) पदमपि सर्वत्र यथाव द्योजनीयमिति, (शतधृतिः) ब्रह्मा (यन्ता) सारथिः कृतः (अगेन्द्रः) गिरिश्रेष्ठः सुमेरुः (धनुः) चापः कृतः (चन्द्रार्कौ) सोमसूर्यौ (रथाङ्गे) द्वे चक्रे विहिते, “रथाङ्गं न द्वये चक्रे ना चक्राङ्गविहङ्गमे-”इति मेदिनी (रथ चरणपाणिः) चक्रपाणि, विंष्णुः (शरः) वाणः कृतः (इति)-श-ब्दस्तु प्रकारार्थः, एवं विध इति वा । महाकालरूपेण त्रैलोक्यप्रल-यकारिणस्तवै तादृशरणसामग्रीसज्जीकरण माडम्बरविधान मेवेति यावत् । अथाक्षेपं परिहरति । (खलु) इति निश्चयेन (विधेयैः) स्वायत्तपदार्थैः सेवकजनै र्वा (क्रीडन्त्यः) खेलां कुर्वन्त्यः (प्रभु-धियः) प्रभूणां महतां वुद्धयः सङ्कल्पविशेषाः (परतन्त्राः) परा-धीनाः (न) कदापि न भवन्ति । अर्थात् क्रीडाकाले प्रयोजना-द्यपेक्षा न सम्भवति । इयं त्रिपुरदाहकथा शिवपुराणादिषु प्रसि-द्धैवास्ति तथा प्यत्र महिमवर्णनार्थ मेव संक्षिप्तरूपेणा पन्यस्ते-ति । स्कन्दपु० माहेश्वरकौमारिकाख० ३३ अ०

क्षोणी रथो विधिर्यन्ता शरोऽहं मन्दरो धनुः ।
रथाङ्गे चापि चन्द्रार्कौ युद्धे यस्य च त्रैपुरे ॥२५॥ भावः स्पष्टः ॥१८॥

संस्कृतपद्याऽनुवादः

पृथ्वी रथः सारथि रात्मयोनिः, शरासनं यत्र सुमेरु रासीत् ।
[मन्दरपर्वतो ऽभूत्]
बभूवतुः सोमरवी च चक्रे, वाणो ऽभव च्चक्रधरो ऽरिभेत्ता ॥
किं दग्धु मिच्छन् त्रिपुरातितुच्छ, माडम्बरं तत्र भवान कार्षीत् ।
विधेयलीलानिपुणाः प्रभूणां, धियः स्वतन्त्रा ननु (खलु) सर्वथैव ॥१८॥

भाषाटीका

हे प्रभो ! (त्रिपुरतृणं) त्रिपुरा-सुर नामक एक तृण को (दिधक्षोः) जराडालने की इच्छा करने वाले (तव) आपको (अयं कः आडम्बरविधिः[1]?) यह कौनसा आडंबर फैलानेका प्रयोजन था, जो आपने (क्षोणीरथः) भूमीको रथ, (शतधृतिः) ब्रह्माको (यन्ता) सारथि (अगेन्द्रः) सुमेरु पर्वतेन्द्रको (धनुः) धनुष (चन्द्रार्कौ) चन्द्रमा और सूर्यको (रथाङ्गे) रथके पहिये (अथो) इसी भांति (रथचरणपाणिः) चक्रधर, विष्णुको (शरः) बाणके रुपमें परिणत किया (इति)-यहां प्रकारार्थ वाची अव्यय है। (खलु) निश्चय करके (प्रभुधियः) स्वामीकी बुद्धियां (विधेयैः) स्वाधीन पदार्थोंसे अर्थात् अपने आधीन लोगोंके साथ (क्रीडन्त्यः) [सत्यः] खेल करतीं हुई (परतन्त्राः न) पराधीन नहीं होतीं। अभिप्राय यह है कि—जब आप अशेष ब्रह्माण्ड का प्रलय करने लगते हैं तो उस समय पर किसी वस्तुके जुटानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती तो फिर एक तृणके समान महान् तुच्छ त्रिपुरको दग्धकरनेके लिए जो इतना बखेडा वढ़ाया कि भूमीको रथबनाकर उसमें चन्द्र-सूर्यकी पहिया लगाई फिर ब्रह्माको सारथि बनाकर सुमेरु पर्वतको धनुष एवं साक्षात् विष्णुको बाण बनाया-भला यह सब आडंबरनहीं है तो और क्या है ?-इस से यही ज्ञात होताहै कि प्रभु लोगोंकी बुद्धि अपनोंके साथ खेलवाड में लगजाने परभी पराधीन नहीं होती। यह त्रिपुरा—सुरकी कथा बहुत प्रसिद्ध है-उसे यह वरदान होचुका था कि जल थल सबको छोड़कर जब एकही बाणसे तीनों पुर भस्म हों तब वह असुर मरे-इस से अन्य किसी से असाध्य समझकर स्वयं महादेवजीने एकही बाणमें उन सबको ध्वस्त करदिया-इस श्लोक में यह दिखलाया है कि ब्रह्मा और विष्णु इत्यादि सबी आपके आधीनहैं, पर आप किसी के आधीन नहीं है—यथा—

"परम स्वतंत्र न सिर पै कोई,
भावै मनहि करहु तुम सोई। (तु० रा०) ॥ १८ ॥

भाषापद्यानुवादः

रथ भूमी सारथि विधी, धनुष सुमेरु महान ।
रवि ससि दोऊ चक्र जहँ, चक्रपानि भे वान ॥
कत आडंबर त्रिपुर तृन-जारन लगि यह कीन ? ।
सेवक सन क्रीडा करति, प्रभु-मति निज आधीन ॥१८॥

भाषाबिम्बम्

विधी सार्थी, भूमी रथ, हिमगिरी चाप बनहीं,
हरी हैगे बानै, रवि ससि भये चक्र जबहीं ।
तयारी ऐसी क्यों त्रिपुर तृन जारै कर करैं (री),
स्वदासोंसे खेलैं प्रभु-मति पराधीन नहि है (री) ॥ १८ ॥

हरि स्ते साहस्रं कमलबलि माधाय पदयो-
र्य देकोने तस्मि न्निज मुदहर न्नेत्रकमलम् ।
गतो भक्त्यु द्रेकः परिणति मसौ चक्रवपुषा
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥ १९ ॥

मधुसूदनी टीका

अथेन्द्रोपेन्द्रयोर्भक्तिं तत्फलं च दर्शयन्हरिहरौ स्तौति—

हरिरिति हे त्रिपुरहर, हरिर्विष्णुस्तव पदयोः साहस्रं सहस्रसंख्यापरिमाणं कमलानां पद्मानां बलिमुपहारं। सहस्रकमलात्मकं बलिमित्यर्थः। आधाय समर्प्य तस्मिन्कमलसहस्रबलावेकोने सति एकेन कमलेन भक्तिपरीक्षार्थं त्वया गोपितेन हीने सति नियमभङ्गो माभूदिति तत्पूरणार्थं तदा कमलान्तरमलभमानो निजमात्मीयं नेत्रकमलमेवोदहरदुत्पाटितवान्। यदेवं स्वनेत्रोत्पाटनरूपं भजनं, असौ भक्त्युद्रेकः भक्तेः सेवाया अत्यन्तप्रकर्षः चक्रवपुषा सुदर्शनरूपेण परिणतिं गतः त्रयाणां जगतां रक्षायै जागर्ति। परिपालनार्थं सावधान एव वर्तते इत्यर्थः। एवमाख्यायिका च पुराणप्रसिद्धा। तथा चैवंविधाचिन्त्यमाहात्म्यस्त्वमसीति भावः॥ हरिपक्षे तु। त्रि-

पुरहरेति प्राग्व्याख्यातम्। हरिरिन्द्रस्तव पदयोः साहस्रं कमलब-
लिमाधाय। कीदृशं नेत्रकमलं नेत्राण्येव कमलानि यस्मिन्स तथा
नेत्रसहस्रात्मकं कमलसहस्रबलिमित्यर्थः। युगपन्नेत्रसहस्रव्या-
पारेण त्वच्चरणयोर्दर्शनरूपमाराधनं कृत्वेत्यर्थः। आराधनप्रयोजन-
माह। निजमात्मानमेकः सहायान्तरशून्यः। अनेतस्मिन्नेतल्लोकवि-
लक्षणे स्वर्गलोके उदहरदुद्धृतवान्। स्वर्लोकाधिपतिमात्मानं कृत-
वानित्यर्थः। निजमुद्धर्तुं युगपन्नेत्रसहस्रेण त्वच्चरणावलोकने यत्प्र-
वणत्वं असौ भक्त्युद्रेकः चक्रवपुषा चक्रं सैन्यं ऐरावतोच्चैःश्रवः
प्रभृति तद्रूपेण परिणतिं गतः परिणतः समुद्रमथनेन लक्ष्मीपीयूषा-
दिप्रादुर्भावात्। त्रयाणां लोकानां रक्षायै जागर्तीत्यादि पूर्ववत् ॥१९॥

संस्कृत टीका

(त्रिपुरहर !) हेत्रिपुरदाहक ! पूर्वकथितविधिनैव त्रिपुरविध्वं-
सके त्यर्थः। (हरिः) विष्णुः (तव) भवतः (पदयोः) चर-
णाम्बुजयोः (साहस्रं) सहस्रसंख्यापरिमितं (कमलबलिं) पद्मो-
पहारं (आधाय) निवेद्य (तस्मिन्) सहस्र-कमलात्मकबलौ (ए-
कोने) एकेन कमलेन हीने सति; भ्रष्टसङ्कल्पत्वभया त्प्रतिज्ञातसं-
ख्यापूरणार्थ मेव (निजं) आत्मीयं (नेत्रकमलं) चक्षूरूपं कमलं,
पुण्डरीकाक्षाभिधानत्वात् (उदहरत्) उदपाटयत् (असौ) स्व-
नेत्रकमलोत्पाटनरूपः (भक्त्युद्रेकः) सेवनप्रकर्षः (चक्रवपुषा) सु-
दर्शनचक्रस्वरूपेण (परिणतिं) परिणामं, फलपरिपाकावस्था मि-
त्यर्थः (गतः) प्राप्तः सन् (त्रयाणां) स्वर्गमर्त्यपातालाख्यानां (ज-
गतां) लोकानां (रक्षायै) परित्राणार्थ मेव (जागर्ति) जागरूकः
सावधानो वा वर्तते। अत्र स्वनेत्रपद्मो पहारदाना देव हरिणा हरस-
काशाल् लब्धं सुदर्शनचक्र मित्याख्यायिका सुप्रसिद्धापि बोधयति,
यत् विश्वम्भरस्या प्यनुग्राहको भगवान् विश्वेश्वर एवे त्यचिन्तनी-
यता विशदीकृता प्रभो र्महिम्न इति। तथा चोक्तमपि स्कन्दपुराणे
माहेश्वरखण्डारुणाचलमाहात्म्ये अ० १६—

एकोने पद्मसाहस्रे स्वनेत्रेण कृतार्चनम्।
शूलिन् ! सुदर्शनं दत्वा दैत्यघ्निष मतूतुषः ॥ १९ ॥

अस्मदुक्ताख्यपितृव्यचरणै र्निजनिर्मितपूजापुष्करिणीग्रन्थोपान्ते विश्वनाथस्तुतौ—तद्यथोक्तं,

"यत्पादपद्मपरिकल्पित मुग्ररूपं,
चक्रं ज्वलज्ज्वलनदीप्ति सुदर्शनख्यम् ।
विष्णुप्रियं निखिलदैत्यविनाशदक्षं,
तं विश्वनाथ मुमया सहितं नतोऽस्मि" ॥ १९ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

साहस्र मम्भोजबलिं विधाय, त्वदीयपादाम्बुजयो रमेशः ।
यदेकपद्मोनबलौ च तस्मिन्, स्वनेत्रपाथोज मुदाजहार ॥
उद्रेक एष भगवन् ! भवतः सुभक्ते,-र्यातोऽथ चक्रबपुषा परिणामरूपम्
त्रैलोक्यरक्षणविधौ प्रथितः पटीया,-ञ्जागर्त्ति दुष्टदलनोत्कसुदर्शनाख्यः

भाषाटीका

(त्रिपुरहर !)हे त्रिपुरविदारक, ! अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारसे त्रिपुरासुरके दाहक ! (हरिः) भगवान् विष्णुने (तव) आपके (पदयोः) चरणों पर (साहस्रं) पूर्ण सहस्र संख्यक (कमलबलिं) कमलके फूलोंका उपहार (आधाय) रखकर, अथवा निवेदन करके (तस्मिन्) उस सहस्र कमलकी पूजामें (एकोने) [सति] एक [फूल] के घटजाने पर, निजसंकल्पके भ्रष्ट होजानेके डरसे (निजं) अपने (नेत्र कमलं) नयन रुपी कमलको (उद्हरत्) निकालकर धरदिया (असौ भक्त्युद्रेकः) यही भक्तिकी प्रकर्षता [ज्यायसी] (चक्रबपुषा) सुदर्शन चक्रके स्वरूपसे (परिणतिं) परिणामको (गतः) प्राप्त होने पर (त्रयाणांजगतां) स्वर्ग-मर्त्य-पातालादि तीनोंही लोकोंके (रक्षायै) पालनके लिये (जागर्त्ति) जागती रहती है अर्थात् सावधान बनी रहती है। अभिप्राय यह है कि—जिस सुदर्शन चक्रके द्वारा भगवान् विष्णुने त्रैलोक्य मात्रका पालन करके विश्वंभरका नाम प्राप्त किया है उसके भी आपही कारण है-आपहीके अनुग्रहसे उनको सुदर्शन चक्र मिला है-यह कथा ऐसेही पुराणोंमें प्रसिद्ध है—एकबार भगवान् विष्णु, सहस्र संख्यक कमलोंसे देवाधिदेवके सहस्र नामके अनुसार एक एक कमल चढ़ाने लगे अंतमें परी-

क्षा लेने के लिये श्रीशङ्करजीने एक पुष्प गुप्त करादिया जब विष्णु-को एक फूलका घटजाना ज्ञात हुआ तो उन्होंने विचार किया कि मेरा नाम पुंडरीकाक्ष प्रसिद्ध है सो अब फूल नहीं है तो उसके बदलेमें अपनी एक आंख निकाल कर चढ़ावें और ऐसाही किया इस अपूर्व महाभक्तिको देखकर भगवान् आशुतोषने परम प्रसन्न होकर उनको सुदर्शन चक्र दिया जिससे वे त्रैलोक्य भरके-पालनकर्ता होगये-इससे यह बात भली भांतिप्रकट होती है कि औरोंको कौन कहे साक्षात् विष्णु भगवानके भी अनुग्राहक स्वयं महादेव स्वामी ही हैं ॥ १९ ॥

भाषापद्यानुवादः

हरि सहस्र अरविंद बलि, तुव पद पूजन लाय।
एक घटे पर निज नयन-कमलहिं दियो चढ़ाय ॥
चक्र सुदर्शन रूपते, भयो भक्ति परिनाम।
त्रिभुवन रच्छा लागिजो, ज गत आठहु जाम १९ ॥

भाषाबिम्बम्

हरी पूजा कीन्ही सहस-कमलोंसे तुमरि ही,
घटे ये एकै के कमलसम आँखी निज दयी (ई)।
वही भक्ती बाढी सफलित भई चक्र-तनुतै,
जगत्-रच्छा लागी त्रिपुरहर ! सो जागत रहै ॥ १९ ॥

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्व मसि फलयोगे क्रतुमतां
क कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधन मृते ।
अत स्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृत(१)परिकरः कर्मसु जनः ॥२०॥

मधुसूदनी टीका

एवं पूर्वश्लोकेषु । परमेश्वराराधनादेव सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्ता । तत्र केचिन्मीमांसकंमन्याः परमेश्वरनिरपेक्षात्कर्मजनितादपूर्वादेव शुभाशुभप्राप्तिरित्याहुस्तान्निराकुर्वन्हरि-

(१) दृढ-इत्यपि पाठः ।

हरौ स्तौति—

क्रताविति। हे त्रिपुरहरेति सम्बोधनं पूर्वश्लोकादनुषज्यते । क्रतौ यागादिकर्मणि आशुतरविनाशस्वभावत्वात्सुप्ते लीने स्वकारणे सूक्ष्मरूपतां प्राप्ते ध्वस्ते सति । क्रतुमतां यागादिकर्मकारिणां कालान्तरदेशान्तरभावितत्तत्फलसम्बन्धे तन्निमित्तं त्वं जाग्रदसि प्रबुद्ध एव वर्तसे । वर्तमाने विहितेन शत्रा जागरणस्य सर्वदास्तित्वमुच्यते तेन सर्वदैवावहितोऽसीत्यर्थः। ननु लिङादिपदवाच्यक्रियायाः स्वर्गादिसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या कल्प्यमपूर्वमेव फलयोगाय जागर्तिं किमीश्वरेणेत्यत आह । क्वेत्यादि । प्रध्वस्तं विनष्टं कर्म पुरुषस्य चेतनस्य फलदातुराराधनं विना क्व फलति । न क्वापीत्यर्थः । नहि लोके कुत्रापि विनष्टस्य कर्मणोऽपूर्वद्वाराफलजनकत्वं दृष्टम् । लोकानुसारिणी च वेदेऽपि कल्पना लोकवेदाधिकरणन्यायात् । चेतनस्य तु राजादेराराधितस्य विनैवापूर्वं सेवादेः फलजनकत्वं दृश्यते। तत्र लोकदृष्टप्रकारेणैव वैदिककर्मणामपि फलजनकत्वसम्भवे न लोकविरुद्धापूर्वफलदातृत्वकल्पनावकाशः। अपूर्वं हि लोकसिद्धकारणान्तरनिरपेक्षं वा स्वर्गादिफलं जनयेत्तत्सापेक्षं वा । आद्ये तत्फलोपभोगयोग्यदेहेन्द्रियादिकमपि नापेक्षेत । न चैतदिष्टं, सर्वस्यापि सुखदुःखादेः शरीरसंयुक्तात्ममनोयोगादिदृष्टकारणजन्यत्वाभ्युपगमात् । द्वितीये तु लोकसिद्धदेहेन्द्रियाद्यपेक्षावदीश्वरापेक्षापि नियता, लोके तथादर्शनात् । तस्माच्छ्रुतिन्यायासिद्धेश्वरपदार्थधर्मिबाधकल्पनाद्वारमपूर्वपदार्थस्य नैरपेक्ष्यधर्ममात्रबाधकल्पनम् । 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायात् । इदं चापूर्वमभ्युपेत्य तत्सापेक्षत्वमीश्वरस्योक्तम् । वस्तुतस्तु नापूर्वे किंचित्प्रमाणमस्ति । लिङादीनामिष्टाभ्युपायतावाचकत्वात् । तदन्यथानुपपत्तेश्च श्रुतिन्याय सहस्रसिद्धपरमेश्वरेणैवोपक्षयात् नापूर्वसिद्धिः । अपूर्वं च तत्फलदातृत्वं च द्वयं भवद्भिः कल्प्यम् । अस्माभिस्तु केवलमीश्वरः कल्प्यः । तस्य फलदातृत्वादिकं तु चेतनत्वाद्राजादिवल्लोकसिद्धमेव । सर्वज्ञत्वेन च तत्तत्कर्मानुरूपफलदातृत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषप्रसङ्गः । यत एवं त्वमेव सर्वकर्मफलदाताऽतस्त्वां क्रतुषु श्रौतस्मार्तकर्मसु कालान्तर फलसाधनेषु फलदानप्रतिभुवं फलदानाय लग्नकमिव सम्प्रेक्ष्य सम्यक् श्रुतिस्मृतिन्यायैः प्रकर्षेण निश्चित्य कर्मफलदातुस्तव सद्भा-

म प्रतिपादिकायां हि श्रुतौ 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः' 'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः' 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते एष उ एव वाऽसाधु' इत्यादिकायां श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा अर्थवादत्वप्रयुक्तस्वार्थप्रामाण्यशङ्कानिरासेन लोकसिद्धदृढतरन्यायानुगृ(१)हीततया देवताधिकरणन्यायेन स्वार्थे प्रामाण्यं निश्चित्य जनः श्रुतिस्मृतिविहितकर्माधिकारी कर्मसु श्रौतस्मार्तेषु कृतपरिकरः कृतः परिकर उद्यमो येन स तथा । कृतारम्भो भवतीत्यर्थः । प्रतिभूसादृश्यं च एतावन्मात्रेणैव विवक्षितम् । यथा कश्चिदुत्तमर्णः प्रमाणनिश्चितं दीर्घकालावस्थानं स्वधनार्पणसमर्थं कंचित्प्रतिभुवं निरूप्य अधमर्णे पलायिते मृते वा एतस्मादेव कुशलिनः प्रतिभुवः सकाशात्स्वधनं प्राप्स्यामीत्यभिप्रायेण यस्मै कस्मैचिदधमर्णायर्णं प्रयच्छति तद्वदधमर्णस्थानीये कर्मणि प्रलीनेऽपि परमेश्वरादेव प्रतिभूस्थानीयात्तत्फलं प्राप्स्यामीत्यभिप्रायेणोत्तमर्णस्थानीयो यजमानो निःशङ्कमेव कर्मानुतिष्ठतीति भावः ॥ *हरिपक्षेऽप्येवं* । शेषं पूर्ववत् । यद्वा सुजनः साधुजनः कर्म श्रुतिस्मृतिविहितं कर्मोक्त कृतवान् । कीदृशः सुजनः । परिकरः परि सर्वतः कं सुखं राति ददातीति तथा सर्वेषां सुखकरः । अहिंसक इत्यर्थः । 'दृढपरिकरः' इति क्वचित्पाठः । तस्य दृढारम्भ इत्यर्थः । अयं च न साम्प्रदायिकः॥२०॥

संस्कृत टीका

हेजगदीश्वर ! (क्रतौ) यज्ञादिकृत्ये (सुप्ते) विलीने ध्वस्ततां गते सति (क्रतुमतां) यागादिकर्मकारिणां यज्वनां (फलयोगे) स्वर्गादिफलसाधने (त्वं जाग्रत् असि) भवानेव जागरूकः अप्रमत्त इति यावत् शतृप्रत्ययः; तिष्ठसि । यतः (प्रध्वस्तं) विनष्टं (कर्म) कार्यं (पुरुषाराधनं) चेतनस्य फलदातु रीश्वरस्येत्यर्थः आराधनं सेवनं (ऋते) विना (क्व फलति) न क्वापीति ध्वनिः । (अतः) अस्मादेव कारणात् (क्रतुषु) यज्ञादिकर्मसु (फलदान प्रतिभुवं) फलप्रदानकाले प्रतिभूः लग्नकः उत्तमर्णाधमर्णयोर्मध्यस्थ स्तं (त्वां)

---

(१) 'गृहीतेन' पाठः ।

भवन्तं (सम्प्रेक्ष्य) सम्यगवलोक्य निश्चित्येत्यभिप्रायः (जनः) लोकः, श्रुतिस्मृत्युदितकर्माधिकारी (श्रुतौ) वेदवाक्ये (श्रद्धां) शङ्कारहितां सप्रमाणां स्पृहां (बद्ध्वा) दृढीकृत्य, निश्चित्य वा (कर्मसु) श्रौतस्मार्तविधिषु (दृढपरिकरः) स्थिरोद्यमो भवति । क्वचि स्कृतपरिकर इत्यपि पाठो लभ्यते,-तत्र कृतारम्भ इत्यर्थः कर्तव्यः । अत्रा चेतनस्य कर्मणः स्वयमेव फलदाने ऽक्षमतां निरूप्य प्रतिभूरूपा च्चैतन्यमया दीश्वरादेव फलप्राप्तिं ज्ञापयित्वा महामहिम-प्रदर्शनपूर्वकं कर्मवादिनां मीमांसकादीनां मतं यथावन् निरस्त मिति ॥ २० ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

यज्ञे विनष्टे फलदानहेतोः, त्वं सावधानो भवसि प्रयत्नात् ।
फलत्य नाराध्य भवन्त मीश ! क यज्वनां कर्म कदापि नष्टम् ॥
अतो ऽवलोक्य क्रतुषु प्रभो ! त्वां, फलप्रदानप्रतिभूस्वरूपम् ।
श्रद्धां विधायाथ जनः प्रयोगे, श्रुत्युक्तवाक्ये बहुलादरो ऽस्ति ॥२०॥

भाषा टीका

हे जगदीश्वर ! (क्रतौ) यज्ञ इत्यादि कर्मोंके (सुप्ते) [सति] सोजाने अर्थात् विनष्ट होजाने पर (क्रतुमतां) यज्ञकर्ता लोगोंके (फलयोगे) स्वर्गादिक फल साधनोंमें (त्वं जाग्रत् असि) आपही जागते रहते हैं-क्योंकि (प्रध्वस्तं) विनष्ट, अथवा विगड़ाहुआ (कर्म) यज्ञादिक कार्य (पुरुषाराधनं) चेतनस्वरूप फलदाता ईश्वरकी आराधना किये (ऋते) विना (क फलति ?) कहां फली-भूत होता है ? अर्थात् कहींभी फल दायक नहीं होसकता । (अतः) इसी कारणसे (क्रतुषु) यज्ञादिक कर्मोंमें (फलदानप्रतिभुवं) फल देनेके समय लग्नक [जामिनदार] (त्वां) आपको (सम्प्रेक्ष्य) अच्छी रीतिसे देखकर (जनः) लोग, [अर्थात् जो श्रुति-स्मृतिके कहेहुए कर्मोंके अधिकारी हैं] (श्रुतौ) वेदके वचनोंमें (श्रद्धां) आदरयुक्त विशेष इच्छाकों (बद्ध्वा) बांध कर अर्थात् दृढ़ करके (कर्मसु) कर्मोंके करनेमे (दृढ़परिकरः) स्थिर उद्यम होते हैं— अर्थात् कमर कस कर उस कर्मके करने पर दृढ़ होजाते हैं । अभि-प्राय यह कि-यज्ञादिक-सकल कर्म तो अचेतन हैं, अत एव वे सब

स्वयं फल नहीं देसकते, तब उनके फलोंका दाता एक मात्र ईश्वर-रही है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, इस श्लोकमें यह बात दिखलाई गई है कि जैसे कोई महाजन जब किसी अधमर्ण [असामी] को कुछ देता है तो एक किसीको मध्यस्थ [जामिनदार] बनालेता है, इसलिये कि यदि अधमर्ण कहीं मर गया, अथवा कहीं भगगया, तो जो मध्यस्थ रहता है उससे अपना द्रव्य लेसकता है—उसी प्रकारसे सब कर्म तो अधमर्णरूप हैं, और कर्मोंका करने वाला पुरुषही उत्तमर्ण [महाजन] है—वही ईश्वर के लग्नक अथवा प्रतिभू [जामिनदार] रहनेसे निश्शंक होकर कर्मोंको करता है—क्योंकि यदि कर्म नष्टभी होजावे, तो उनके प्रतिभू स्वयं आप [ईश्वर] ही बने रहते हैं—इससे कर्ता—को किसी कर्मपर फल नहीं पानेका अथवा कर्मके निष्फल होजानेका संदेह नहीं रहजाता, अत एव श्रुति-स्मृतिपुराणा दिकोंके कर्मों पर लोगोंका भरोसा बना रहता है—अर्थात् यदि ईश्वरके विना आराधे कर्मही फल देसकते हैं, तो जब कर्म नष्ट हो जायँगे तो उनका फल कौन देसकता है ? अतएव समस्त फलोंके दाता ईश्वरहीको जागरूक देखकर सब लोग कर्म करनेमें तत्पर होते हैं, यदि ऐसा नहीं होता तो संसारमें सब कर्मोंका होनाही बन्द होजाता—यह बात सब प्रकारसे सिद्ध है।

भाषापद्यानुवादः

क्रतु सूते पै जागहू, तुम फल वितरन हेत।
विनु अवराधे पुरुषको, बिगरे को फल देत ? ॥
प्रतिभू तुमहि विलोकि जग, जग्यनके फल माँहि।
करि स्रद्धा स्रुति कर्म पै, जन निज कमर कसाँहि ॥ २० ॥

भाषाबिम्बम्

क्रतूके सूते पै फलद बनि आपै नित जगैं,
विना तो आराधे करम बिगरे क्यों फलि सकैं ?।
तुमीको जज्ञोंमें फल—मिलनको जामिन लखैं
श्रुती पै स्र (श्र) द्धासें कमर कसि कर्मै जन करैं ॥ २० ॥

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपति रधीश स्तनुभृता-
मृषीणा मार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रेष(१) स्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो(२)
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुर मभिचाराय हि मखाः ॥२१॥

मधुसूदनी टीका

एवं भगवत्प्रसादेन क्रतुफलप्राप्तिमुक्त्वा विहितानां शुभफलजनकत्वानुपपत्त्या धर्माख्यमपूर्वं द्वारत्वेन कल्पनीयमिति पक्षो निराकृतः । संप्रति विहिताकरणनिषिद्धकरणयोरशुभफलस्य भगवत्प्रसादासाध्यत्वात्तदर्थमवश्यमधर्माख्यमपूर्वं कल्पनीयमितिशङ्कायां राजाज्ञालङ्घनादेरिव भगवदाज्ञोल्लङ्घनादखिलानर्थफलत्वं दृष्टद्वारेणैव भविष्यतीत्यभिप्रायेण भगवतोऽप्रसादेन क्रतुफलाप्राप्तिमनर्थप्राप्तिं च दर्शयन्हरिहरौ । स्तौति—

क्रियेति । हे शरणद, दक्षो दक्षनामा प्रजापतिः स्वयं क्रियास्वनुष्ठेयासु दक्षः प्रवीणः । यज्ञविधौ कुशल इत्यर्थः । एतेन विद्वत्त्वमधिकारिविशेषणमुक्तम् । तथा तनुभृतां शरीरिणामधीशः स्वामी प्रजापतित्वात् । एतेन सामर्थ्यमधिकारिविशेषणमुक्तम् । एतादृशः क्रतुपतिर्यजमानः । तथा ऋषीणां त्रिकालदर्शिनां भृगुप्रभृतीनामार्त्विज्यमृत्विक्त्वमाध्वर्य्वादिरूपता । तथा सुरगणा ब्रह्मादयो देवगणाः सदस्याः सभ्या उपद्रष्टारः । एतादृशसर्वसामग्रीसंपत्तावपि त्वत्तः परमेश्वरादप्रसन्नात्क्रतोर्यज्ञस्य भ्रेषः भ्रंशो जातः । कीदृशात् । क्रतुफलविधानव्यसनिनः क्रतोर्यज्ञस्य फलं स्वर्गादि तस्य विधानं निष्पादनं तेन व्यसनी तदेकनिष्ठस्तस्मात् क्रतुफलदातृस्वभावोऽपि त्वमवज्ञाय क्रतुभ्रंशहेतुनां नीत इत्यर्थः । एतदेव द्रढयन्नाह । ध्रुवमिति । ध्रुवं निश्चितं क्रतुफलदातरि परमेश्वरे विषये श्रद्धाविधुरं भक्तिरहितं यथा स्यात्तथानुष्ठिता मखा यज्ञाः कर्तुर्यजमानस्याभिचाराय नाशायैव भवन्तीत्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । तनुभृतामधीशः क्रतुपतिः तनुं स्वशरीरमेव बिभ्रति पुष्णन्तीति तनुभृतो दैत्या देववाह्यास्ते हि सुरनरपितृभ्यो न प्रयच्छन्ति सर्वहिंसया स्वशरीरमेव

(१) क्रतुभ्रंशः । (२) क्रतुषु फलदानव्यसनिनः । पाठावपि ।

पुष्णन्ति तेषामधीशो राजा बलिः क्रतुपतिर्यजमानः, अथवा तनून्क्षीणान्बिभ्रति पुष्णन्ति ते तनुभृतो वदान्यास्तेषामधीशो दातृ १) वीराग्रगण्यो बलिः। कीदृशः। क्रियादक्षोदक्षः उत्कृष्टान्यक्षीणीन्द्रियाणि यस्य स उदक्षः क्रियादक्षश्चासावुदक्षश्चेति स तथा। सुरेषु देवेषु गण्यन्ते इति सुरगणा देवतुल्याः पुरुषाः सदस्याः। श्रद्धाविधुरत्वं च भगवदनुगृहीतेन्द्रादिदेवगणैः सह विरोधात्। स्वभक्तद्रोहा हि भगवतः स्वद्रोहादप्यधिकः। शेषं पूर्ववत्॥ २१॥

संस्कृत टीका

(शरणद!) हेशरणार्तिहारिन्! (क्रियादक्षः) सकलकर्मप्रवीणः (तनुभृतां) शरीरधारिणां (अधीशः) स्वामी (दक्षः) दक्षप्रजापतिः (क्रतुपतिः) यज्ञकर्ता,-यजमानः तथा (ऋषीणां) त्रिकालदर्शिनां भृगुप्रभृतीनां (आर्त्विज्यं) ऋत्विजो भावः, ऋत्विक्कृत्य मित्यर्थः। एवं (सुरगणाः) ब्रह्मादयो देवा एव यत्र (सदस्याः) सभ्या उपद्रष्टार इति यावत्। एतादृशविशिष्टसामग्रीसम्पत्तावपि (क्रतुषु) यज्ञेषु (फलदानव्यसनिनः) फलं स्वर्गादिकं तद्दाने व्यसनी, तदेकनिष्ठ स्तस्मात् (त्वत्तः) भवतः सकाशा देव (क्रतुभ्रंशः) यज्ञविध्वंसः। अभूदितिशेषः (हि) यतः (श्रद्धाविधुरं) सकलकर्मफलदायक ईश्वरे भक्तिविरहितं यथा स्यात्तथा नुष्ठिताः (मखाः) यज्ञाः (कर्तुः) यागकारिणो यजमानस्य (अभिचाराय) विनाशायैव भवन्ती ति (ध्रुवं) विनिश्चित मेव। क्वचित् 'क्रतुभ्रंश' इत्यत्र क्रतुभ्रेष इत्यपि पाठ स्तत्रा प्यर्थः स एव। तथाच 'क्रतुषु फलदानव्यसनिन-' इत्यत्रापि क्रतुफलविधानव्यसनिन-इति लभ्यतेऽर्थस्तु स्पष्ट एव। अत्राखिलपुराणप्रसिद्धां दक्षयज्ञविध्वंसकथा मवलम्ब्या नीश्वरवादिनां मतं निराकुर्वता स्तोत्रा भगवतो महिमैव स्पष्टीकृत इत्यवधेयम् उक्तमपि स्कन्दपुराण-माहेश्वर-कौमारिका खण्डे-३३ अ० २४-श्लो० "यज्ञादिकाश्च ये धर्मा विना यस्या र्चनं वृथा। दक्षोत्र सत्यदृष्टान्तः क स्तस्मा त्परमो भवेत्"॥

संस्कृतपद्यानुवादः

क्रियासु दक्षो यजमानरूपो,-ऽप्यधीश्वरो देहभृता ञ्च दक्षः।
प्रजापति र्देवगणा न्सदस्यान्, कृत्वर्त्विजः श्रेष्ठतमा नृषींश्च॥

---

(१) 'दानवाग्रगण्यो' इति पाठः।

त्वत्तः क्रतुभ्रंश मवाप यज्ञ-फलप्रदानव्यसनातुरा त्स्वः ।
श्रद्धावि(विश्वास हीना हि मखा भवन्ति,कर्तु र्विनाशार्थ मवश्य मेव२१

ॐ भाषा टीका ॐ

(शरणद !) हे शरणागतरक्षक ! (क्रियादक्षः) समस्त क्रियाओंके अभिज्ञ, तथा (तनुभृतां अधीशः) शरीरधारियोंके अधिनायक, अर्थात् कर्म-प्रवीण एवं सामर्थ्यवान् अधिकारी (दक्षः) दक्ष नामा प्रजापति (क्रतुपतिः) स्वयं यज्ञकर्ता, अथवा यजमान हुए, तथा (ऋषीणां आर्त्विज्यं) [त्रिकालदर्शीभृगु-इत्यादि] ऋषिलोग जहांपर ऋत्विक्-अर्थात् होम करानेवाले थे, और (सदस्याः सुरगणाः) सबी देवतालोग सभासद थे, [ऐसा भारी यज्ञ] (क्रतुषु फलदानव्यसनिनः) यज्ञोंमें फलदेनेके व्यसनी [आदती] (त्वत्तः) आपही द्वारा (क्रतुभ्रंशः) यज्ञकाविध्वंस हुआ । (हि) क्योंकि (श्रद्धाविधुरं) श्रद्धासे रहित (यज्ञाः) समस्त यज्ञ (कर्तुः) यज्ञकर्ताके (अभिचाराय) उलटे फल अर्थात् विनाशहीके लिए होतेहैं (ध्रुवं) यह बात निश्चित है । भाव यह कि जब स्वयं यजमान को ईश्वर पर श्रद्धा नहीं होती तो उसके यज्ञादिक कर्मोंके अनुष्ठान करनेसे उलटे [विपरीत] ही फल मिलते हैं, जैसें स्वयं बडे कर्मनिष्ठ तथा प्रजामात्रके स्वामी दक्षप्रजापति बड़े बड़े महार्षियोंको ऋत्विक् और समस्त देवताओं को सभासद बनाकर यज्ञ करने लगे पर आपकी भक्तिसे वंचित होनेके कारण समस्त यज्ञोंके फलदाता आपहीके द्वारा उनका यज्ञ विध्वस्त हो गया जिससे आपका 'क्रतुध्वंसी' नाम ही पड़ गया-यह कथा प्रायः सभी पुराणोंमें पाई जाती है तथापि काशखिंडके ८७ । ८८ । ८९ अध्यायों में विशदरूपसे वर्णित है और तुलसी कृत रामायण में भी मिलती है जिसके अन्तमें ऐसा लिखा है ।

"समाचार जब संकर पाये,
बीरभद्र करि कोप पठाये ।
यज्ञ विधँस जाइ तिन कीहा,
सकल सुरह विधिवत फल दीहा ।
भइ जग विदित दच्छ गति सोई,
जस कछु संभु-विमुख कर होई ।

यह इतिहास सकल जग जाना
तातें मैं संछेप बखाना ॥"

❧ भाषापद्यानुवादः ❧

दीच्छित दच्छ प्रजापती, क्रिया-कांडमें दच्छ ।
ऋषी लोग ऋत्विज (ग)जहाँ, सभ्य देव परतच्छ ॥
क्रतु फल दाता तुमहिंसो, जज्ञ भयो सो भ्रष्ट ।
विनु स्रद्धाके जज्ञ सब, कर्तहि करहिं विनष्ट ॥ २१ ॥

❧ भाषाविम्बम् ❧

क्रिया-ज्ञाता दच्छै प्रभु सबहिके दीच्छित बने,
ऋषी लोगे ऋत्विक् सुरगन सभै सभ्य जहँ भे ।
भयो जज्ञै सोऊ विहत, फलदानी (ता) तुमहिसो,
विना स्रद्धा कीहे लहत मखकर्ता नहि फ(भ)लो ॥ २१ ॥

प्रजानाथं नाथ प्रसभ मभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषु मृष्यस्य वपुषा ।
धनुःपाणे र्यातं दिव मपि सपत्राकृत ममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः ॥२२॥

❧ मधुसूदनी टीका ❧

अथ ब्रह्ममारीचैयोर्मृगरूपयोर्वधं दर्शयन्हरिहरौ स्तौति--

प्रजानाथमिति । हे नाथ नियामक, तव परमेश्वरस्य धनुः पाणेः धृतपिनाकस्य मृगव्याधरभसः मृगान्विध्यतीति मृगव्याधो लुब्धकः तस्यैव रभस उत्साहातिरेको मृगव्याधरभसः शर एव तथा आरोपितः स चार्द्रानक्षत्ररूपेण परिणत इति पुराणप्रसिद्धः । अमुं प्रजानाथं ब्रह्माणं दिवं स्वर्गं यातं प्राप्तमपि नक्षत्रमध्ये मृग· शिरोरूपेण परिणतमपि तथा सपत्राकृतं सह पत्रेण शरं शरीरे प्रवेश्यातिव्यथां नीतः सपत्राकृतस्तादृशामिवात्मानं मन्यमानं । रूप· कमेतत । शरस्यार्द्रानक्षत्ररूपेण संनिधानमात्रं नतु ताडनमिति द्रष्टव्यम् । अथवा शरेण ताडित एव ब्रह्मा रुद्रस्य क्रोधोत्साहवि· शेष एवार्द्रानक्षत्ररूपेण परिणत इति पुराणान्तरप्रसिद्धया द्रष्टव्यम् ।

अत एव त्रसन्तं त्रिश्यन्तमद्यापि न त्यजति । इदानीमपि धनुष्पाणिमेव त्वां सर्वदा दर्शयतीत्यर्थः । तस्यैतादृशदण्डार्हतामाह । स्वामात्मीयां दुहितरं पुत्रीं रोहिद्भूतां लज्जया मृगीभूतां ऋष्यस्य मृगस्य वपुषा शरीरेण रिरमयिषुं रमयितुमिच्छुम् । इयं चेल्लज्जया मृगीभूता तर्ह्यहमपि मृगरूपेणैनां भजिष्यामीति बुद्ध्या मृगरूपेण प्रसभं हठेनानिच्छन्तीमपि तां गतं रत्यर्थं प्राप्तम् । तस्य परमवशिनोऽपि स्वमर्यादातिक्रमे कारणं वदन्विशिनष्टि । अभिकं कामुकम् । कामेनाभिभूतत्वात्स्वमर्यादोल्लङ्घिनमित्यर्थः । एवं हि पुराणेषु प्रसिद्धम्–'ब्रह्मा स्वदुहितरं संध्यामतिरूपिणीमालोक्य कामवशो भूत्वा तामुपगन्तुमुद्यतः । सा चायं पिता भूत्वा मामुपगच्छतीति लज्जया मृगीरूपा बभूव ततस्तां तथा दृष्ट्वा ब्रह्मापि मृगरूपं दधार । तच्च दृष्ट्वा त्रिजगन्नियन्त्रा श्रीमहादेवेनायं प्रजानाथो धर्मप्रवर्तको भूत्वाप्येतादृशं जुगुप्सितमाचरतीति महतापराधेन दण्डनीयो मयेति पिनाकमाकृष्य शरः प्रक्षिप्तः ततः स ब्रह्मा व्रीडितः पीडितश्च सन् मृगशिरोनक्षत्ररूपो बभूव । ततः श्रीरुद्रस्य शरोऽप्यार्द्रानक्षत्ररूपो भूत्वा तस्य पश्चाद्भागे स्थितः । तथा चार्द्रामृगशिरसोः सर्वदा संनिहितत्वादद्यापि न त्यजति' इत्युक्तम् । हरिपक्षे तु । हे नाथ, रोहिद्भूतां गतं प्रजानाथं दिवं यातमपि धनुष्पाणेस्तव मृगव्याधरभसोऽद्यापि न त्यजति । रोहिता हरिण्याः सकाशाद्भवतीति रोहिद्भूर्हरिणशावकः तस्य भावो रोहिद्भूता तां गतम् । हरिणशावकत्वं प्राप्तमित्यर्थः । प्रजाः प्राणिनो नाथति उपतापयतीति प्रजानाथो राक्षसः स च प्रकृते मारीचाख्यस्तम् । किमर्थं तस्य मृगरूपधारणमित्यत आह । प्रसभमभिकं रिरमयिषुं प्रकृष्टा शौर्यादियुक्ता सभा यस्य स प्रसभस्तं तादृशं, अभितः कानि शिरांसि यस्य सोऽभिको दशग्रीवस्तम् । सीतापहरणोपायेन क्रीडयितुमिच्छुम् । तथा स्वां दुहितरमयोनिजां कन्यां सीतां ऋष्यस्य वपुषा विचित्रमृगशरीरेण रिरमयिषुं प्रमोदयितुमिच्छुम् । विचित्रमृगरूपं मां दृष्ट्वा सीता स्त्रीस्वभावादतिमुग्धा मच्चर्मग्रहणार्थं श्रीरामं प्रेरयिष्यति । ततो रामे बहुदूरं मयाऽपसारिते लक्ष्मणे च तदुद्देशार्थं गते एकाकिनीं सीतां रावणः सुखेन हरिष्यतीत्यभिप्रायेण धृतविचित्रमृगशरीरमित्यर्थः । अत एव बाणेन सपत्रा-

कृतत्वाद्दिवं परलोकं यातम्। मृतमित्यर्थः। अमुं मृतमपि प्रसन्त-मद्यापि तव मृगव्याधरभसो न त्यजंतीत्युत्प्रेक्षारूपो ध्वनिः। शेषं पूर्ववत् ॥ २२॥

संस्कृत टीका

(नाथ !) हे स्वामिन्? नाथतीति अच्प्रत्ययः। (धनुष्पाणेः) पिनाक पाणेः महाधनुर्धरस्य (ते) तव (मृगव्याधरभसः) मृग-व्याधयोः रभसो वेगः। अथवा मृगान् विध्यतीति मृगव्याधः-"श्या-द्व्यधास्रु"-३।१।१४१-इत्यादिना णः। लुब्धकः। तस्यैव रभस उ-त्साहातिरेक इत्यर्थः। "रभसो वेग हर्षयो"-रिति विश्वप्रकाशः। "अत्यविचमितमि"-३।११७-उणा० इत्यादिना असच्। आखेटो-त्साह इति यावत्। मृगानुसरणतत्परव्याधलीलानुकरणहर्ष इत्य-भिप्रायः। (अद्यापि) अद्यतनदिवसावधि (प्रजानाथं) ब्रह्माणं,"स्र-ष्टा प्रजापति र्वेधाः"-इत्यमरः। (न त्यजति) नैव विजहाति। इदा-नी मपि भवन्तं धनुः पाणि मेवावलोकयतीति भावः। अन्यत् सर्वं विशेषण मेव-कथं भूतं प्रजानाथ मिति सर्वत्र योजनीयं (रोहिद्भू-तां स्वां दुहितरं ऋष्यस्य वपुषा रिरमयिषुं) लज्जावशा दधर्माचर-णभया द्वा रोहिद्भूतां मृगीभूतां स्वा मात्मीयां दुहितरं पुत्रीं ऋष्य स्य मृगस्यैव वपुषा शरीरेण रिरमयिषुं रमयितु मिच्छुम्। इयं मृगी जाता चे दह मपि मृगो भूत्वै नां भजिष्यामी ति बुद्ध्या मृगरूपेण (प्रसभं) बलपूर्वकं हठाद्वा, अनिच्छन्ती मपीत्यर्थः। (गतं) रत्यर्थ मेव प्रयातम्। तस्यापि मर्यादातिक्रमणे कारणं विशिनष्टि। (अ-भिकं) कामुकं, "अनुकाभिकाभीकः कमिता"-५।२। ७४-इति साधुः। पुनः (दिवं यातमपि) स्वर्गपर्यन्तं पलायित मपि अर्था न्मृगशिरो नक्षत्ररूपतां गत मपि (सपत्राकृतं) सह पत्रेण शरं शरीरे प्रवेश्या तिव्यथितमिवा त्मानं मन्यमानं (अमुं) प्रत्यक्षरूपेण वर्तमानं। अत एव (त्रसन्तं) अत्यन्तभयग्रस्त मित्यर्थः। अत्र कु-पथगामिनो विश्वसृजोऽपि परमनियामको भगवान् विश्वेश्वर एवे ति तस्य माहिमातिशय एव द्योतितः स्तोत्रकाविनेति ॥ २२॥

संस्कृतपद्यानुवादः

नाथ ! स्वपुत्रीं हरिणीत्व मेतां, मृगस्वरूपेण विहर्तु मिच्छुम्।
बला त्प्रजानाथ ममुं पुराणं, बाणाभिघातव्यथितान्तरालम् ॥

कामातुरं देव ! दिवं प्रयातं, त्रसन्त मद्यापि पिनाकिन स्ते ।
जहाति नैवा तिधनुर्धरस्य, आखेटकोत्साह उमाविहारिन् ॥ २२ ॥

भाषा टीका

(नाथ !) हे सर्वनियामक ! (धनुष्पाणेः ते) पिनाक नामक महाधनुषको हाथमें धारण करने वाले आपका (मृगव्याधरभसः) मृगोंके अहेरीका उत्साह अर्थात् मृगोंकी मृगया [शिकार] करनें में लगे हुए व्याधका उत्साह [हौसिला] । (अद्यापि) आजतक भी (अमुं प्रजानाथं) इस वर्तमान समस्तजगतके सृष्टिकर्ताको (न त्यजति) नहीं छोडता है। और सब विशेषण हैं अर्थात् कैसा है प्रजानाथ कि-, (रोहिद्भूतां स्वां दुहितरं ऋष्यस्य वपुषा रिरम· यिषुं) लाजमें पडकर अथवा पापके डरसे हरिणीबनीहुई अपनी कन्याके साथ हरिणका शरीर धरकर रमण करनेकी इच्छा करने वाला। फिर कैसा है-(प्रसभं गतं) उसकी इच्छा नहीं होने परभी बलपूर्वक गमन करने वाला । मृगी जब नहीं चाहतीथी तो बलपूर्वक [जबरदस्ती] गमन करनेमें कारण दिखाते हैं कि-(अभिकं) कामातुर। फिर-(दिवं यात मपि सपत्राकृतं) स्वर्ग पर्य्यन्त भागकर जाने परभी अपनेको बाणसे विधाहुआ समझने वाला-अतएव (त्रसन्तं) भयसे ग्रस्त । येसब (प्रजानाथं) के विशेषण हैं। अभिप्राय यह है कि जब प्रजापतिभी कामातुर होकर अपनी कन्याके रूप पर मोहित हो गये तो वह अपने रूपके कारण पिताको कामातुर समझ तुरत मृगी [रोहिणी-नक्षत्र] हो गई जिसमें पशुका रूप देखकर पिताका काम वेग शान्त हो जावे-पर उसे मृगी होते ही प्रजापति भी मृगका शरीर धरकर बल पूर्वक उसके साथ रमण करनेको उद्यत हो गये-यह देखकर भगवान् शंकरजीने धनुष हाथमें लेकर उनके पीछे धावा किया जिसपर वह स्वर्ग तक दौडे पर आजतक उनका पिंड नहीं छूटा-क्योंकि संध्या तो मृगी-अर्थात् रोहिणी नक्षत्र है, और उसके पीछे पीछे चलने वाला प्रजापति मृगशिरा नक्षत्र है-फिर उसका आखेट करनेको प्रतिक्षण उद्यत रहने वाला श्रीमहादेवजीका बाण [रौद्र] आर्द्रानक्षत्र बनकर उसके पीछे लगा रहता है-भाव यह कि मृगीके

लिये जब प्रजापति मृग बने तो आप भी तुरत मृगयु [शिकारी] बन कर उनके पीछे पड़े जिस भयसे वह अपनेको तीरसे बिधा हुआ समझकर नक्षत्ररूपसे स्वर्ग में भागते फिरते हैं-इस श्लोककी कथा स्कन्द पुराणादिकोमें विस्तृतरूप से वर्णित है-इसका भाव यह है कि औराको कौन कहे जब स्वयं प्रजापतिभी कामके वशमें पड़कर कुपथ पर आरूढ़ होगये तो आपहीने उनकाभी शासन किया-अत एव आपकी महिमा सर्वथा अतुलनीय और अचिन्तनीय है !

"सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी,
ईश देइ फल हृदय विचारी ।" (तु० रा०) ॥

भाषा पद्यानुवादः

निज तनुजा अभिलाषते, कामुक परजानाथ ।
हरिन रूप धरि जात भे, विहरन हरिनी साथ ॥
कर लै धनु वेध्यो तिहै, गये स्वर्गलौं भाग ।
तजत सिकारि अजहुँ नहिं, लच्छ पेखि करि लाग ॥ २२ ॥

भाषा बिम्बम्

अपानी कन्याते रमन करिवेको मृगबने,
प्रजास्वामी कामी सरग तललौं दौरत थके ।
तवै आपौ व्याधा बनि तिहि लखेयो डरत सो,
लिये ह थै चापौ फिरहु अजहू नांहि तजतो ॥ २२ ॥

स्वलावण्याशंस धृतधनुष मह्नाय तृणव-
त्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुध मपि ।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वा मद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥ २३ ॥

मधुसूदनी टीका

परमवञ्चिनां वरावपि श्रीराममहादेवौ लक्ष्मीपार्वत्यनुकम्पया स्त्रैणमिवात्मानं दर्शयेत इति प्रतिपादयन्स्तौति—

स्वलावण्येति । हे पुरमथन, हे यमनिरत, यमनियमासनाद्य-ष्टाङ्गयोगपरायण । एतेन जितेन्द्रियत्वमुक्तम् । पुष्पायुधं कामं त्वया

११

तृणवत्तृणमिव अह्वाय शीघ्रं प्लुतं दग्धं पुरः साक्षादेवान्यवधानेन दृष्ट्वा त्वाक्षुषज्ञानविषयीकृत्य । कीदृशं पुष्पायुधम् । स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं स्वस्याः पार्वत्याः यल्लावण्यं सौन्दर्यातिशयस्तद्विषया आशंसा परमयोगिनमपि श्रीरुद्रमस्याः सौन्दर्यातिशयेन वशीकरिष्यामीति या प्रत्याशा तया निमित्तभूतया धृतं धनुर्येनेति तथा तम् । एतेन स्वलावण्यातिशयस्यापि श्रीरुद्रविषयेऽकिंचित्करत्वमुक्तम् । तथा चैव स्वलावण्यवैयर्थ्यं पुष्पायुधस्य तृणवद्दाहं च स्वयं साक्षात्कृत्वापि देवी पार्वती इयं चिरकालं मामुद्दिश्य तपः कृतवती चिरदुःखं मा प्राप्नोति करुणामात्रेण देहार्धघटनात् त्वया स्वशरीरार्धेऽवस्थापनाद्धेतोर्भ्रमबीजात् यदि त्वां सर्वयोगिनां वरं स्त्रैणं यद्वयं मदधीनो न भवेत्कथं मां स्वशरीरार्धे स्थापयेदिति भ्रान्त्या स्त्रीसक्तं यद्यवैति विशेषादर्शनात्कल्पयति तर्हि तदद्धा युक्तमेव तस्याः । अयुक्तस्यापि युक्तत्वे हेतुमाह । बतेत्यादि । हे वरद, अतिदुर्लभमपि स्वदेहार्धं दत्तमिति वरदेति योग्यं संबोधनम् बत अहो, युवतयस्तरुण्यः मुग्धा अतत्त्वज्ञाः । स्वभावत एवेति शेषः । तथा च सहजान युवतिविभूषणानां प्रधानं मौग्ध्यमनुकुर्वन्त्याः स्वरूपतश्चिन्निरूपाया अपि देव्या मिथ्याज्ञानं युक्तमित्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । हे अर्धघटनादव, घटनाया अर्धमित्यर्धघटना अर्धपिप्पलीवत् । तस्या दवो वनवह्निः । दाहक इति यावत् । सीतारूपाया लक्ष्म्याः रामरूपेणोचितासंयोगात्स्वेच्छयाऽर्धसंभोगं दत्त्वाऽर्धविप्रलम्भं दत्तवानसीत्यर्थः । सा पूर्वश्लोकोक्ता देवी सीतारूपा लक्ष्मीः । कीदृशी । यमनिरतदेहा अत्यन्तपतिव्रता । तथा पुरमथनपुष्पा पुरस्य शरीरस्य मथनानि पीडकानि पुष्पाणि यस्याः सा तथा । पुष्पाणामपि (१)स्पर्शासहा । अतिसुकुमाराङ्गी इत्यर्थः त्वां श्रीरामरूपं यदि स्त्रैणमवै(२)त्यवगच्छति तदद्धेत्यादि पूर्ववत् । त्वां कीदृशम् स्वकीयं लावण्यमत्रशौर्यादिगुणकृतं सौन्दर्यं तस्मिन्नाशा यस्य स स्वलावण्याशस्तम् । सीताया अनुद्धरणात्स्वस्य शौर्यादिप्रसिद्धिर्गच्छेदिति स्वकीर्तिरक्षार्थिनमित्यर्थः । अत एव धृतधनुषं सज्जीकृतकोदण्डम् । इदमेकं भ्रमबीजमुक्तम् । भ्रमबीजान्तरमाह । अह्वाय तृणवत्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा शीघ्रमेव

(१) 'स्पर्शात्पीडोत्पत्तेरतिसुकु०' इति पाठः । (२) 'मेति प्रत्येति' इति पाठः ।

तृणस्येव पुरो लङ्कायाः प्लुष्टं दाहम्। भावे क्तः। तथायुधं युद्धमपि दृष्ट्वा। आयुधशब्दस्य शस्त्रे युद्धे चानुशासनात्। तथा च स्वकीर्तिरक्षार्थमत्यर्थमत्यन्तपतिव्रतायाश्च देव्याः कारुण्येन क्लेशविमोचनार्थं सज्जीकृतकोदण्डं त्वामर्धघटनादेवमप्ययं यदि मदधीनो न भवेत्तदा कथमेतादृशदुष्करकर्माणि मामुद्दिश्य कुर्यादिति भ्रमेण स्त्रीसक्तमिव कल्पयतीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत् ॥ २३ ॥

संस्कृत टीका

(पुरमथन !) हे त्रिपुरान्तक ! (स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं) स्वस्याः पार्वत्याः एव यल्लावण्यं सौन्दर्य्यातिशयो रूपशोभाविशेष स्तल्लक्षणं—
यथा—

"मुक्ताफलेषु छायाया, स्तरलत्व मिवा न्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य मिहो च्यते॥"—

इत्युज्ज्वलनीलमणिः।

तस्य आशंसा प्रत्याशा–अर्था जितेन्द्रिय मपि शिव मेतस्या लावण्येनैव जेष्यास्ये तादृशी धारणा, तथा चोक्त मपि कुमारसम्भवे "कुर्य्यां हरस्यापि पिनाकपाणे, र्धैर्य्यच्युतिं के मम धन्विनो ऽन्ये।" एवं रूपया धारणया निमित्तरूपया धृतं धनु र्येन तं। "स्वलावण्या शंसे"ति पदं पृथक्कृतंचेत् देवी–पदस्यापि विशेषणत्वं प्रयाति, तथा त्मसौन्दर्य्यकीर्तनशीला, रूपगर्विते त्यर्थः। (पुष्पायुधं) कामं (अह्नाय) झटिति–अव्ययपद मेतत्। (पुरः) अग्रे (तृणवत्) शुष्कतृण सदृशं (प्लुष्टं) दग्धं, प्रुषु–प्लुषु–दाहे–इत्यस्मा द्धातोः क्तप्रत्ययः,–तथाच, "यस्य विभाषा"–७। २। १५–इत्यत इट् न। (दृष्ट्वा अपि) साक्षा दवलोक्यापि (देवी) पार्वती (यमनिरतदेहार्द्धघटनात्) यमनियमा–सनाद्यष्टाङ्गयोगततपरशरीरार्द्धयोजनकारणात्, किंवा हेयमनिरतेति सम्बुद्धिपदं, तदग्रे स्वशरीरार्द्धे ऽवस्थापना देव (त्वां) परमजितेन्द्रियं (यदि) कदाचित् (स्त्रैणं) स्त्रीसक्तं स्वाधीनं लम्पटमिति वा (अवैति)। तर्हि तत् (अद्धा) युक्तमेव–"त-

स्वे त्वद्धाञ्जला द्वय"-मित्यमरः। हे (वरद !) देव्या अत्युत्कृष्टतपो वीक्ष्य स्वदेहार्द्धरूपवरदातः ! परमयोग्य मिदं सम्बोधनम् (वत) अहो ! खेदे वा (युवतयः) तरुण्यः (मुग्धाः) मूढा अतत्त्वज्ञा इत्यर्थः "मुग्धः सुन्दरमूढयो"-रत्राप्यमरः। भवन्तीति शेषः। अत्राप्यर्थान्तर न्यास एव। अर्द्धनारीश्वररूपवर्णनन्तु स्कन्दपुराणस्य माहेश्वरखण्डारुणाचलमाहात्म्ये २१अ० १९श्लोकादारभ्य २४पर्य्यन्तं तथा शिवपुराणस्थवायुसंहितापूर्वभागे १३अध्याये चार्द्धनारीश्वरस्तोत्रं ब्रह्मणोक्तं प्रेक्षणीयमेवेति विस्तरभया न्नेह लिखितं अस्मिन् पद्ये कामदाहको भूत्वाऽपि स्वय मर्द्धनारीश्वररूपधरो योगतत्त्वज्ञो भगवा नेवेति परमाद्भुतमहिमप्रकाशनं स्पष्टीकृत मिति ॥२३॥

संस्कृतपद्यानुवादः

धनुर्धरं वीक्ष्य पुरः प्रदग्धं, पुष्पायुधं तुच्छतृणोपमानम् ।
देहार्द्धसंयोजनकारणा त्वे,-दवैति देवी (गौरी) त्रिपुरान्तक ! त्वाम् ॥
स्त्रीलम्पटं स्वीयवशंवदं वा, स्वकीयसौन्दर्य्य मिवो द्विरन्ती ।
तर्हीश ! मुग्धा वत सम्भवन्ति, स्त्रियो विदग्धा अपि निश्चयेन ॥ २३ ॥

भाषाटीका

पूर्व कथित श्लोकमें कामुक प्रजापतिके शासनकी बात कही गई-इससे एक शंका यह होती है कि महादेवजीने दूसरेको तो अपराध देखकर दंड दिया पर स्वयं तो पार्वती देवीको अपने आधे अंगमें लिये रहते हैं-अतएव वेभी तो कामुक हैं !-इस सन्देहकी निवृत्ति इसीश्लोकमें करते हैं—(पुरमथन) हे त्रिपुरासुरदाहक ! -इस विशेषणका भाव यह है किअकेले कामको कौन कहे आपने तो तीनठो पूरे पूरे पुरों [नगरों] हीको जलाकर भस्म कर डाला है- यह बहुत ही योग्य विशेषण है। (स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं) अपनी सुनाईकी आशासे अर्थात् पार्वती देवीकी सुन्दरताके भरोसे धारण किया है धनुष जिसने ऐसे-(पुष्पायुधं) फूलहीं हैं आयुध जिसके-अर्थात् कामदेवको (अह्नाय) झटपट, उसीघड़ी (पुरः)

अपने सामने (तृणवत्) [सूखेहुए] तिनगोंके समान (प्लुष्टं) जलकर राख हुआ (दृष्ट्वा अपि) देखकर भी (देवी) स्वयं भगवती पार्वती जी (यमनिरतदेहार्द्धघटनात्) यम-नियम-आसन— इत्यादिमें तत्पर रहनेवाले शरीरमें आधा मिलालेनेसे (त्वां) आप ऐसे परम जितेन्द्रिय पुरुषको (यदि) जो कि '(स्त्रैणं) स्त्रीजित, अथवा स्त्रीमें आसक्त (अवैति) समझती हैं तो (अद्धा) ठीक ही है। (वरद !) हे पार्वतीजीके बड़े कठोर तपोंको देखकर अपनी आधीशरीर देदेने वाले ! (वत !)बड़े खेदकी बातहै !! कि, (युवतयः) जुवतीलोग (मुग्धाः) मुख्य तत्त्वको नहीं समझतीं-अतः मूढ़ही होती हैं। भाव यह है कि चाहे पार्वती देवीने त्रिपुरासुरका दाह न देखा हो पर कामदेवको-जिसने उहींके भरोसे आपको जीतलेनेकी इच्छासे धनुष उठाया था अपनेही सामने जल भुनकर राख हुआ देखकरभी अटल समाधिलगानेवाले आपको अपनी आधी शरीरके देडालनेसे यदि स्त्रीभक्त समझतीं हैं तो यह बड़े खेदकी बात है, कि तरुणीलोग मूढ़ही बनी रहती हैं। चेतनस्वरूपा भगवती का मायारूपा होनेहीसे मुग्धा होना सिद्ध है।

फिर, यथा-''सत्य कहहिं कवि नारि सुभाउ,
सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिंब मुकुर गहि जाई
जानि न जाइ नारि गति भाई।'' (तु० रा०)

योंही पार्वतीजीको आधी शरीर देडालनेकी बातभी दूसरे प्रकारसे रामायणमें कहीगई है जैसे कि—

''हरखे हेतु हेरि हर हीको,
किय भूषन तिय-भूषन तीको।'' (तु० रा०)

किंबा—

''अजा अनादि शक्ति अविनासिनि,
सदा संभु-अरधंग-निवासिनि।'' इत्यादि (तु० रा०)

भाषापद्यानुवादः

जासु लुनाई आस बस, परम धनुर्धर मार।
देखत देवी सामुँहे, तृन-सम भो जरि छार॥

अर्ध देहके घटन (दान) ते, खीजित समुझहि तोहि ।
अहह ! जोगिवर ! वरद ! ध्रुव, जुवती मुगधा होहि ॥ २३ ॥

भाषाबिम्बम्

स्वसौंदर्जै भाषी धनुषधर पुष्पा-युध सज्यो,
भयो छारै देखी तृन-सरिस आगे मदनको ।
भवानी जौ खीजित् अरध-तनु पाके समुझती,
प्रभो ! भोली भाली निपट मति होती जुवतिकी ॥ २३ ॥

स्मशानेष्वा क्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः ।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैव मखिलं
तथापि स्मर्तृणां वरद परमं मङ्गलमसि ॥ २४ ॥

मधुसूदनी टीका

अथ स्वयममङ्गलशीलतया क्रीडन्नपि भक्तानां मङ्गलमेव ददासि, स्वयममङ्गलशीलानामपि भक्तानां त्वमेव मङ्गलमसीति च वदन् शंकरनारायणौ स्तौति—

* स्मशानेति । * हे स्मरहर, हे वरद, तवाखिलमपि शीलं सर्वमपि चरितं एवंप्रकारेणामङ्गल्यं मङ्गलविपरीतं भवतु नाम । किं नस्तेन निरूपितेनेत्यर्थः । तथापि स्वयममङ्गलशीलोऽपि स्मर्तृणां तवस्मरणकर्तृणां त्वं परमं मङ्गलमेवासि निरतिशयं कल्याणमेव भवसि तेनामङ्गलशीलो ऽयं रुद्रो न मङ्गलकामैः सेवनीय इति भ्रमं परिहृत्य मनोवाक्कायप्रणिधानैः सर्वदा सर्वैः सेवनीयोऽसीत्यर्थः । एवंपदसूचितममङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति । स्मशानेष्वि त्यादि । स्मशानेषु शवशयनेष्वासमन्तात्केलिः, पिशाचाः प्रेताः सहायाः, चिताभस्म शवदाहस्थं भस्माङ्गरागसाधनम्, नृकरोटी मनुष्यशिरोस्थिसमूहस्रग्माला । अपिशब्दादन्यदप्यार्द्रचर्मादि ॥ * हरिपक्षे तु । *

हे वरद, तव स्मर्तॄणाममङ्गल्यं शीलं भवतु नाम, तथापि तेषां त्वमेव परमं मङ्गलमसीत्यर्थः। तथाच गीतासु-'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः' इति। अथवा तव नाम स्मर्तॄणामिति योज्यम्। नाममात्रं स्मरतां परमं मङ्गलमसि त्वां स्मरतां तु किमु वाच्यमित्यर्थः। कीदृशं नाम। अखिलं न खिलं फलरहितमखिलं सर्वदा सर्वत्र सफलमित्यर्थः। अत्यन्तपापित्वेन प्रसिद्धानामजामिलादीनामपि त्वन्नाममात्रस्य पुत्रनामत्वेन मरणव्यथया शिथिलकरणत्वेन च मन्दमुच्चारणेऽपि सर्वपापक्षयद्वारा परमपुरुषार्थप्राप्तिश्रवणात्। अमङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति। स्मशानेष्वित्यादिरूपकेण। अत्यन्ततिरस्कृतिवाच्यो ध्वनिरयं लक्षणामूलः। शवशयनतुल्येषु सर्वदा रोदनप्रधानगृहेष्वा-ईषत् क्रीडा। अल्पकालं वैषयिकतुच्छसुखप्राप्तिरित्यर्थः। तथाच स्मरहरपिशाचाः सहचराः स्मरणं स्मरः शास्त्रीयो विवेकस्तं हरन्तीति स्मरहराः पिशाचतुल्याः, पुत्रभार्यादयः पिशाचाः, स्मरहराश्च ते पिशाचाश्च स्मरहरपिशाचाः। यथा पिशाचाः स्वावेशेन ज्ञानलोपं कृत्वा पुरुषमनर्थे योजयन्ति तथा पुत्रभार्यादयोऽपि। तादृशाश्च वस्तुगत्या वैरिणोऽपि सहैव चरन्ति न क्षणमपि त्यजन्तीति सहचराः। तथा चिताभस्मतुल्य आलेपः। देहस्य विण्मूत्रपूयादिपूर्णत्वेनातिजुगुप्सितत्वात्तदालेपनस्याप्यतिजुगुप्सितत्वम्। तथा मनुष्यशिरोऽस्थिसमूहतुल्या माला पिशाचतुल्यं भार्यादि विनोदहेतुत्वात्। अपिशब्दादन्यदपि सर्वं चरितं विषयसङ्गिनाममङ्गलमेव। एतादृशा अपि चेत्वां त्वन्नाम वा स्मरन्ति तदा त्वमेव तेषां मङ्गल्यरूपेणाविर्भवसीत्यहोऽतिभक्तवात्सल्यमित्यर्थः। *हरपक्षेप्येवं योजनीयम्* ॥ २४ ॥

संस्कृत टीका

(स्मरहर!) हेकामनाशक! (श्मशानेषु) शवदहनस्थलेषु (आक्रीडा) समन्ताद्विहरणं, तथा (पिशाचाः) भूतवेतालादयः (सहचराः) सहचारिणः सहाया वा (चिताभस्म) मृतदेहदाहार्थनिचितदग्धकाष्ठक्षारं-"चितं छन्ने त्रिषु चिता चित्यायां संहतौ स्त्रियाम्।" (आलेपः) समन्ताद्विलेपनमङ्गराग इत्यर्थः। अथ च (नृकरोटीपरिकरः) नृणां मनुष्याणां करोट्यः शिरोऽस्थीनि-"शि-

रोस्थीनि करोटिः स्त्री"-त्यमरः । गौरादित्वात् ङीष् । तासां परिकरः समूहः "भवेत्परिकरो व्राते"-इति विश्वप्रकाशः । अर्थान्नरकपालवृन्दं (अपि स्रक्) माला (एवं) अनेन प्रकारेण (तव) भवतः (अखिलं) समस्तं (शीलं) स्वभावः-"शीलं स्वभावे सद्वृत्ते-"इत्यमरः । (अमङ्गल्यं) कल्याणरहितं अभव्यमितियावत्-"तत्र साधुः"-४ । ४ । ९८ इति यत् प्रत्ययः । (भवतु) तिष्ठतु (तथापि) हेतुनिर्देशसूचनं । हे (वरद !) ईप्सितकामनापूरक ! (नाम) तवाभिधानमपि अथवा नामेति सम्बुद्धिसुचकं (स्मर्तॄणां) चिन्तकानां (परमं) सर्वोत्कृष्टं (मङ्गलं) मङ्गल-स्वरूपं भद्रं वा (असि) भवसि । अत्र स्वयममङ्गलमयस्वरूपेण विहरन्नपि स्वचिन्तकेभ्यो भवान् परमं मङ्गलं ददातीति महद्भक्तवात्सल्यं विशदीकृत्य श्मशानाद्युपकरणवर्णनया च महामहिमा प्रदर्शित इति । यथा चोक्तं शिवपुराणस्थ-ज्ञानसंहितायाश्चतुर्दशाध्याये—

"यद्यप्यमङ्गलानीह सेवते शङ्करः सदा ।
तथापि मङ्गलं तस्य स्मरणादेव जायते ॥ ५६ ॥
शिवेति मङ्गलं नाम मुखे यस्य निरन्तरम् ।
तस्यैव दर्शनादन्ये पवित्राः सन्ति नित्यशः ॥ ५७ ॥"

संस्कृतपद्यानुवादः

प्रभो ! श्मशानेषु सदा निवासः,
प्रेतैः पिशाचैश्च समं विहारः ।
तथा चिताभस्मविलेपनं ते,
विभूषणं मानवमुण्डमाला ॥
एवंविधो भवतु यद्यपि ते स्वभावो,
नित्यं समस्तशुभकर्मविवर्जितो वा ।
शम्भो ! तथापि नितरां निजचिन्तकाना-
मुत्कृष्टमङ्गलमयोऽसि शिवस्वरूपः ॥ २४ ॥

भाषा टीका

(स्मरहर !) हे कामनाशक ! [इससे पूर्वश्लोकमें कामदेवके दहनकी चर्चा होनेसे यहां पर यह संबोधन बहुतही उचितरीतिसे प्रयोग किया गया है] (श्मशानेषु आक्रीडा) मरघट या मसानों प-

र चारो ओर खेलवाड करना, तथा (पिशाचाः सहचराः) भूत पिशाचोंको अपना सहचर (साथी) बनाना। एवं (चिताभस्मालेपः) चिताकी राखको अपने शरीरमें लेपन करना। और फिर-(अपि नृकरोटीस्रक्) मनुष्योंकी मूडी [खोपड़ी] हीकी माला भी पहिरना (परिकरः) आपकी यही पूँजी अथवा शृंगारकी सामग्री है। (एवं) इस प्रकारसे (तव) आपका (अखिलं शीलं) समूचा स्वभाव [सारा बाना] (अमङ्गल्यं) मंगलसे रहित (भवतु) होवे, (तथापि) तौभी (नाम स्मर्तृणां) केवल नामही को स्मरण करनेवालोंके लिये (परमँ) बहुत भारी (मङ्गलं असि) मङ्गल-स्वरूप आप होते हैं। भाव यह कि—आप मरघटोंपर विहार, भूत प्रेतों का संग, चिताकी राखका अंगराग, और मनुष्योंके मुंडकी माला--इत्यादि समस्त अशुभ पदार्थोंहीसे सजे रहते हैं, पर जो लोग केवल आपका नाम स्मरण करते हैं, उनको मंगलही देते हैं-यह अद्भुत महिमा है। यहां पर आप-स्मरहर हैं और आपका अमङ्गल शील है-यह कहकर फिर-स्मरण करने वालोंके आपही परम मंगल दाता हैं—ऐसी उक्तिके कारण विरोधालंकारके सहित विचित्रालंकारभी-अर्थान्तरन्यासमें मिला हुआ है। नामके स्मरणका फल समस्त पुराणादिकोंमें सविस्तर वर्णित है, और तुलसीकृत रामायणमेंभी नाममहिमाका एक प्रकरणही है अत एव उसे वहीं देखलेना चाहिए-और एक ग्रंथभी-"नामायन"-नामका छपा है जिसमे केवल नामहीकी महिमाका सङ्ग्रह किया गया है। फिरभी इतना कहदेना आवश्यक हैं कि,—

"भव अंग भूति मसानकी—
सुमिरत सुहावनि पावनी।" (तु० रा०)

औरभी यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहू,
नाम जपत मंगल दिसि दसहू।" (तु० रा०)

भाषापद्यानुवादः

खेलहु आप मसान पै, साथी भूत पिसाच।
लेपि चिता राखी धरहु-मुंडमाल करि नाच॥
जदपि अमङ्गल सील तुम, पै सुमिरै जौ कोय।
ताहि सुमंगल गँजत (देत) हौ, वरदायक ! शिव होय २४॥

भाषाबिम्बम्

मसानों पै लीला सहचर पिसाचै संग करो,
चिता-राखी लेपो नर-सिरनि माला पहिरतो ।
तिहारे कर्मो (सीलों) में जदपि नहि एको सुभ अहैं,
तबौ नामै लेके सुमिरत जनै मंगल लहैं ॥ २४ ॥

मनः प्रत्यक्चित्ते सविध मवधाया त्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः ।
य दालोक्या ह्लादं हृद इव निमज्ज्या मृतमये
दधत्य न्तस्तत्त्वं कि मपि यमिन स्त त्किल भवान् २५॥

मधुसूदनी टीका

अतीतः पन्थानमित्यत्र हि पदार्थत्रयमुपन्यस्तं, कतिविधगुण इत्यनेन सगुणमैश्वर्यं, कस्य विषय इत्यनेनाद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं, पदे त्वर्वाचीन इत्यनेन लीलाविग्रहविहारादि । तत्र अजन्मानो लोकाः इत्यत्र सामान्यतः परमेश्वरसद्भावं दृढीकृत्य, तवैश्वर्यं यत्नाधदुपरीत्यादिना सगुणमैश्वर्यं लीलाविग्रहविहारादिकं च वर्णितम् । संप्रत्यद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं वक्तव्यमवशिष्यते । तदनभिधाने पूर्वोक्तस्य सर्वस्यापि तुषकण्डनवत्त्वप्रसङ्गान्निर्गुणब्रह्मस्वरूपस्यैव सर्वश्रुतिस्मृतितात्पर्यविषयत्वेन सत्यत्वात्, सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य स्वप्नवन्मिथ्यात्वात् । तस्मान्निर्गुणब्रह्मनिरूपणायोत्तरग्रन्थारम्भः । तत्र पूर्वश्लोके त्वं परमं मङ्गलमसीत्युक्तम् । तत्रैवमाशङ्क्यते । मङ्गलं हि सुखम् । न चेश्वरस्य सुखस्वरूपत्वं सम्भवति, सुखस्य जन्यत्वाद्गुणत्वाच्च, ईश्वरस्य नित्यत्वादद्रव्यत्वाच्च । नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवानीश्वरो न सुखरूपो नापि सुखाश्रय इति तार्किकाः । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरश्चितिरूपो न सुखरूप इति पातञ्जलाः । तदेवं नाद्वितीय ईश्वरो नापि सुखस्वरूप इत्याशङ्क्य तस्याद्वितीयपरमानन्दरूपत्वे विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणं वदन्स्तौति—

मन इति। हे वरद, यत्किमपि तत्त्वं इदंतया वक्तुमशक्यं सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकं वस्त्वालोक्य वेदान्तवाक्यजन्ययाऽखण्डाकारवृत्त्याऽपरोक्षीकृत्य यमिनः शमादिसाधनसंपन्नाः परमहंसाः अन्तराह्लादं बाह्यसुखविलक्षणं निरतिशयसुखं दधति पूर्वं विद्यमानमेव धारयन्ति न तूत्पादयन्ति नित्यत्वात्। तत्तत्त्वं किल भवानिति। किलेति प्रसिद्धौ। सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकत्वेनैव श्रुतिषु प्रसिद्धो भवान्न तार्किकाद्युक्तप्रकारः। अतस्त्वं कथं परमं मङ्गलं न भवसीति वाक्यशेषः। तत्राह्लादस्य निरतिशयत्वं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह अमृतमये ह्रदे निमज्ज्येव यस्य खलु लेशमात्रमपि स्पृष्ट्वा सकलसंतापोपशमेन सुखिनो भवन्ति, किमुत वक्तव्यं तस्य निमज्जनरूपसर्वाङ्गसंयोगेनेति कारणातिशयात्कार्यस्याप्यतिशयः सूचितः। यद्यपि ब्रह्मानन्दस्य सर्वातिशयिनो न कोऽपि दृष्टान्तोऽस्ति तथापीषत्साम्येनापि लोकानां बुद्धिदार्ढ्यायैवमुक्तम्। एतादृशब्रह्मानन्दानुभवस्यासाधारणं कारणमाह मन इत्यादिना। चित्ते-हृदयाम्बुजे मनः संकल्पविकल्पात्मकमवधाय-निरुध्य। वृत्तिशून्यं कृत्वेत्यर्थः। कीदृशं मनः। प्रत्यक् चक्षुरादीन्द्रियाद्वारा बहिर्विषयप्रवृत्तिप्रतिकूलतया अन्तर्मुखतयैवाञ्चतीति प्रत्यक्। कीदृशा यमिनः। सविधं-सप्रकारं यथा स्यात्तथा आत्तमरुतः, शास्त्रोपदिष्टमार्गेणैव कृतप्राणायामा इत्यर्थः। अत्र सविधमित्यनेन यमनियमादिसाधनानि सूच्यन्ते। आत्तमरुत इत्यनेन चतुर्थः कुम्भकः। विषयेभ्य इन्द्रियाणां निवर्तनरूपः प्रत्याहारः प्रत्यक्पदेन सुचितः। चित्त इत्यनेन हृदयाम्बुजाख्यदेशसं(१)बन्धात्समूहावलम्बनाख्या धारणोक्ता। अवधायेत्यनेन ध्यानसमाधी। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना-'देशसम्बन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति। चित्तस्य वशीकरणार्थं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्ध्याज्ञाख्यचक्राणामन्यतमे देशेऽवस्थापनं धारणेत्युच्यते। प्रत्ययस्य एकतानता (एकविषयप्रवणता(२)) विषयः प्रवाहः। स च द्विविधः। विच्छिद्यविच्छिद्य जायमानः संततश्चेति। तावुभौ क्रमेण ध्यानसमाधी भवतः। एतेना-

---

(१) 'संम्बन्धद्वारेण धारणोक्ता' इति पाठः।

(२) 'एकतानतैकविषय' इति पाठः।

ष्टाङ्गयोगपरिपाको ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुर्निदिध्यासनरूपत्वेनोक्तः। एवं ब्रह्मानन्दानुभवस्य कारणमुक्त्वा कार्यमाह । प्रहृष्यद्रोमाणः प्रकर्षेण पुलकिताङ्गाः । तथा प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः हर्षाश्रुपूर्णनेत्राः । एतदुभयं च यमिनामानन्दानुभवानुमाने लिङ्गमुक्तम् । अत्र प्रशब्देनोत्सङ्गितशब्देन च लौकिकसुखापेक्षयाऽतिशयविशेषो व्यज्यते । यस्य च तत्त्वस्यालोकनमात्रेणाऽप्यन्ये परमाह्लादं बिभ्रति, तत्स्वयं परमाह्लादरूपं भवतीति किमु वक्तव्यमित्युक्तम् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'एष एव परम आनन्दः' 'योवै भूमा तत्सुखं' 'कोह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्याद्याश्रुतयश्चास्मिन्नर्थे प्रमाणत्वेन द्रष्टव्याः ॥ *हरिपक्षेऽप्येवम्*॥२५॥

संस्कृत टीका

हे प्रभो ! (प्रत्यक्) चक्षुश्श्रोत्रादीन्द्रियद्वारा प्रत्यञ्चतीति प्रत्यक् (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकं प्रधानेन्द्रियं (चित्ते) हृदयाकाशे (सविधं) सप्रकारं यथा स्यात्तथा (अवधाय) संस्थाप्य निरुद्ध्येति यावत् (आत्तमरुतः) गृहीतवायवः, योगशास्त्रोक्तविधिना कृतप्राणायामा इत्यर्थः । अत एव (प्रहृष्यद्रोमाणः) प्रकर्षेण पुलकिततनूरुहाः । तथाच (प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः) हर्षाश्रुपूरितलोचनाः । अर्थात् एतादृशीं दशामापन्नाः (यमिनः) यम-नियम-शम-दमान्विता योगिनः (यत्) इयत्तया वक्तुमशक्यं सच्चिदानन्दमयं (किमपि) अविज्ञातविषयं वस्तु (अन्तः) अन्तःकरणमध्ये, स्वीयान्तरात्मनि इति वा (आलोक्य) ज्ञानचक्षुषा समीक्ष्य (अमृतमये) परानन्दपूर्णे, अथवा जलप्रपूरिते-"पयः कीलालममृत-"मित्यमरः । (हृदे) अगाधजलाशये (निमज्ज्येव) अवगाहनं कृत्वेव (आह्लादं) अनिर्वचनीयं सुखं (दधति) धारयन्ति (तत्) तदेव प्रसिद्धं (तत्त्वं) परमात्मा-"तत्त्वं परात्मनि। वाद्यभेदे स्वरूपे च-"इति हेमचन्द्रः। (भवान्) त्वमेव (किल) इति निश्चयेन। अस्तीति शेषः। अत्र ध्यानधारणासमाधिनिष्ठैर्योगिभिर्यत्तत्त्वं हृदयाकाशेऽवलोक्यते तत्स्वरूप एव भवानिति परमात्मरूपवर्णनपूर्णं परममहिमानं विशदीकुर्वता कविना स्वस्यापि योगाचार्य्यत्वं स्फुटीकृत मितिज्ञेयम् ॥ २५ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

यत्नान्निवृत्ते विषयेभ्य आत्मनि,
चित्तं समाधाय विधानपूर्वकम् ।
रोमाञ्चिता एव गृहीतवायवो,
हर्षाश्रुसम्पूरितमीलितेक्षणाः ॥
यद्योगिनो वीक्ष्य सुधामये ह्रदे,
सुखं निमज्येव भवन्ति मोदिताः ।
त त्सच्चिदानन्दघनस्वरूपकं,
त त्वं किमप्यस्ति भवान् किल प्रभो ! ॥ २५ ॥

भाषाटीका

हेप्रभो! (प्रत्यक् मनः) नेत्रादिक इन्द्रियोंसे, बाह्यविषयोंकी प्रवृत्तिकी प्रतिकूलतासे भीतरकी ओर खींचने वाला, संकल्प विकल्पात्मक इन्द्रियोंमें प्रधान मनको (चित्ते) हृदया—काशमें (सविधं) विधिपूर्वक (अवधाय) लगाकर अथवा रोककर (आत्तमरुतः) योग शास्त्रकी रीतिसे श्वासको रोकरखने वाले, अर्थात् कुंभक नामक प्राणायामकी विधिसे श्वासको रोके रहने वाले (प्रहृष्यद्रोमाणः) इसी कारणसे विशेष रोमांचित हुए। और (प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः) बड़े हर्षके मारे अश्रुजलसे परिपूर्ण हैं नेत्र जिनके ऐसे (यमिनः) यमनियम-शम-दम इत्यादिसे युक्त योगीलोग (यत्) जिस, अर्थात् इतनाही-भर कहनेको अशक्य सच्चिदानन्द मय (किमपि) कोई भी अविज्ञातविषय वस्तुको (अन्तः) अपने अन्तः करणमें अथवा अपने अन्तरात्मामें (आलोक्य) ज्ञानचक्षुसे देखकर (अमृतमये) परमानन्दसे पूर्ण, किंवा जलसे भरे हुए (ह्रदे) अगाध जलाशयमें (निमज्य इव) मानों गोंता लगाकर, डूबकर (आल्हादं) अनिर्वाच्य सुखको (दधति) धारण करते अथवा प्राप्त होते हैं (तत् तत्त्वं) वह प्रसिद्ध तत्त्व अर्थात् परमात्मा (भवान्) आपही हैं (किल) निश्चय करके। अभिप्राय यह है कि—बाह्य विषयोंसे मनको मोड़कर और विधिपूर्वक अपने हृदयरूपी आकाशमें बैठाकर योगीलोग जिस अकथनीय वस्तुको देखकर प्राणायामके द्वारा श्वासवायुको रोके हुए परमानन्दसे नेत्रोंमें हर्षाश्रुको भरे पुलकित होते हैं, जैसे कोई उष्ण-

तासे तापित होकर निर्मल जलसे परिपूर्ण अगाध सरोवरमें गोते लगाकर बड़ा अल्हादित होताहै—वही परमतत्त्व आप हैं अर्थात् योगी लोग जो अटल समाधि लगाकर परमानन्दका अनुभव करते हैं वह आपही हैं--इस कथन से यह सिद्ध होताहै कि आपको कोई भी किसी प्रकारसे बता नहीं सकता क्योंकि आप ज्ञानगम्य हैं अत एव वाणी द्वारा आपका प्रतिपादन करना सर्वथा असंभव है--जैसा कि "अतीतः पन्थानं (२)" में कह आये हैं-उस श्लोक में तीन बातें कही गई हैं। अर्थात् "कतिविधगुणः"—इस वाक्यसे सगुण ऐश्वर्य्य जनाया है। "कस्य विषयः"इस पदसे अद्वितीय ब्रह्म स्वरूपका प्रतिपादन किया है। और "पदे त्ववाचीने"--इस कथनसे लीला विग्रह तथा विहारादिकका बोधन किया है। इनमें पहिले "अजन्मानो लोकाः" (६)--यहां पर सामान्यरूपसे परमेश्वरकी सत्ताको दृढ़ करके—"महोक्षः खट्वाङ्गं (८)" तथा--तवैश्वर्य्यंयत्नाद्यदुपरि (१०) इत्यादि पद्योंसे सगुणरूपकी महिमा और लीला शरीर तथा विहारादिकोंका वर्णन किया है। अब अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपका वर्णन करना अवशिष्ट (बाकी) रहा जाता है, अत एव यहां पर निर्गुण ब्रह्मका निरूपण आरम्भ करते है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्मके निरूपण किये विना पहिलेका कहा हुआ सब कुछ भूसीं कूटनेके समान व्यर्थही हुआ जाता है—कारण यह कि समस्त वेद और शास्त्रोंका तात्पर्य्य एकमात्र निर्गुण ब्रह्म स्वरूपहीके निरूपण करनेमें सत्य विषय होता है--क्योंकि जितने प्रपञ्च हैं वे सब स्वप्नके समान मिथ्या हैं। इसी लिये यहां पर निर्गुण ब्रह्मका निरूपण करदेना आश्यक समझकर ग्रंथकार उत्तरग्रंथका आरभ करते हैं। यहांपर यह शंका होती है कि पूर्वश्लोकमें कह आये हैं कि आपही परम मंगल स्वरूप हैं--तो मंगलका अर्थ सुख है--इसलिये ईश्वर सुखका स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि सुख तो जन्य वस्तु है अर्थात् उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर सुखमें गुणत्वभी वर्तमान रहता है, और ईश्वर नित्य है, फिर वह कोई द्रव्यभी नहीं है। नित्य ज्ञान इच्छा-और प्रयत्न वाला ईश्वर सुखरूप नहीं है और न सुखोंका आश्रयही है," यह तार्किकलोगों का मत है । "क्लेश-कर्म-विपाक-आशय इत्यादिसे दूर रहनेवाला चैतन्यमय पुरुष-वि-

शेषही ईश्वर है जोकि सुखरूप नहीं होता-"यह पातंजल मत हैं। अत एव अद्वैत ईश्वर कदापि सुखमय नहीं हो सकता-इसी शंका- का समाधानकरते हुए ईश्वरके अद्वितीय-परमानन्द-रूपतामें विद्वा- नोंके अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणको दिखलाया है-भाव यह कि यदि योगी लोगोंको कोई आनन्दही नहीं मिलता तो इतनी बड़ी बड़ी समाधि लगाकर वे लोग कैसे पड़े रहते ? क्योंकि आनन्दका लक्षण नेत्रोंमे अश्रुका भरजाना तथा शरीरका पुलकित होना स्पष्ट है-इससे उन योगियोंको जो परम आनन्द प्राप्त होता है वही आप हैं, अतः ब्रह्म का सत्-चित्-आनन्दमय होना प्रत्यक्ष सिद्ध है । जैसाकि—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्-" इत्यादि श्रुति वा- क्योंसे प्रमाणित है । अतएव निर्गुण ब्रह्मही आनन्दमय है यह बात सर्वथा सिद्ध है। क्योंकि जिसके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण मिल रहा है उसपर किसी प्रकारका तर्क नहीं चल सकता।

रामायणमेंभी नारदमुनिके व्यामोह प्रकरणमें यों कहा गया है—

"सुमिरत हरिहि स्वांस गति बांधी,
सहज विमल मन लागि समाधी ।"

और योगियोंको जो तत्त्व दिखलाई पड़ता है उसका भी आभा- स सीतास्वयंरमें झलकाया है, यथा—

"जोगिन परम तत्त्वमय भासा,
सन्त सुद्ध मन सहज प्रकासा ।" इत्यादि (तु० रा०)

भाषापद्यानुवादः

हृदय-कमल मँह राखि मन, प्रान वायुको खींचि ।
पुलकित तनु हरषास्रुते, नयन-कमल जुग सींचि ॥
बूडि अमृतमय तालमें, पावहिं जिमि सुखरासि ।
लहहिं जोगिगन तत्त्व जो, सो तुम अंतस-भासि ॥ २५ ॥

भाषाबिम्बम्

लगाके आत्मामें सविध मनको रोकि पवनै,
भरे रोमांचोंसे हरष-जल-पूरे नयन है ।
लखैं जोगी जाको अमृत सरमे स्नान करिधौं
लहैं जो आनंदे अकथ शिव ! सो तत्त्व तुम हौ ॥ २५ ॥

त्व मर्क स्त्वं सोम स्त्व मसि पवन स्त्वं हुतवह-
स्त्व माप स्त्वं व्योम त्व मु धरणि रात्मा त्व मिति च ।
परिच्छिन्ना मेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्त त्तत्त्वं वय मिह तु य त्त्वं न भवसि ॥२६॥

मधुसूदनी टीका

एवमद्वितीये ब्रह्मणि परमानन्दरूपे सर्वात्मके विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम् । अधुना तस्यैवाद्वितीयत्वं तर्केणापि साधयन्स्तौति—त्वमर्क इति । हे वरद, परिणताः परिपक्वबुद्धयस्त्वयि विषये एवं परिच्छिन्नामेवंप्रकारेण परिच्छिन्नत्वेन त्वां प्रतिपादयन्तीं गिरं वाचं बिभ्रतु धारयन्तु नाम । केन रूपेण परिच्छिन्नामित्यत आह—त्वमर्क इत्यादिना । अत्र सर्वत्र त्वंशब्दो वाक्यालंकारार्थः । उशब्दोऽवधारणे त्वमित्यनेन सम्बध्यते । चशब्दः समुच्चये । इतिशब्दः समाप्तौ । अर्कादयः प्रसिद्धाः । आत्मा क्षेत्रज्ञो यजमानरूपः । एते चाष्टौ श्रीरुद्रमूर्तित्वेनागमप्रसिद्धा वक्ष्यमाणभवादिनामाष्टकसहिताश्चतुर्थ्यन्ता नमोन्ता अष्टौ मन्त्रा भवन्ति ते गुरूपदेशेन ज्ञातव्याः । एतदष्टमूर्तित्वं चान्यत्राप्युक्तम्—'क्षितिहुतवहक्षेत्रज्ञाम्भः प्रभञ्जनचन्द्रमस्तपनवियदादित्याष्टौ मूर्तीनमो भव बिभ्रते' इति । तेन सर्वात्मकमपि त्वा मर्काद्यष्टमात्रमूर्तिं वदन्तीत्यर्थः । अत्रापरिणता इत्यस्मिन्नर्थे परिणता इति सोपहासं बिभ्रत्विति लोटाननुमताप्यनुमतिप्रकाशनात् । तेन सर्वथानुचितमेवैतदित्यर्थः । तर्हि किमुचितं ज्ञात्वा त्वयेदमनुचितमुच्यत इत्यत आह—नेत्यादिना । हि यस्मात् इह जगति तत्तत्त्वं वस्तु वयं न जानीमो यद्वस्तु त्वं न भवसि । त्वद्भिन्नमिति यावत् । अत्र स्वस्य प्रमाणकौशलेनोत्कर्षं ख्यापयितुं विद्म इति बहुवचनम् । वयं तु त्वदभिन्नत्वेनैव युक्त्या सर्वं जानीम इत्यर्थः । एवं च तत्र सर्वात्मकत्वादर्कादिविशेषरूपाभिधानं व्यर्थमेव । तथा च श्रुतिः—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' इति च सर्वदेवभेदं वारय-

ति। नहि सदतिरिक्तं किंचिदुपलभ्यते सद्रूपश्चात्मा त्वमेवेति तर्केणापि सिद्धमद्वैतम्। नच सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे घटादिज्ञानस्यापि ब्रह्मज्ञानस्वरूपत्वात्ततोऽपि मोक्षप्रसङ्ग इति वाच्यम्। अन्यानुपरक्तचैतन्यभावस्यैव मोक्षहेतुत्वात्। घटाद्याकारज्ञानस्य चाविद्यापरिकल्पितान्योपरक्तचैतन्याविषयत्वात्। अन्योपरक्तचैतन्यस्य च सद्रूपेण चक्षुरादिविषयत्वेऽप्यन्यानुपरक्तस्यैतस्य न वेदान्तवाक्यमात्रविषयत्वव्याघातः। ननु सर्वस्य सन्मात्रत्वेऽपि नाद्वैतसिद्धिः। भिन्नानामपि सत्ताजातियोगेन सदाकारबुद्धिविषयत्वसम्भवात्। अन्यथा द्रव्यगुणकर्मादिभेदव्यवहारोऽपि न स्यादिति चेन्न। द्रव्यं सद् गुणः सन्नित्यादिप्रतीतेर्द्रव्यत्वादिधर्मविशिष्टैकसन्मात्रविषयत्वमेव न तु द्रव्यादिधर्मिषु भिन्नेषु सत्ताख्यधर्मविषयत्वम्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वात्। एकस्मिन्नसति च सर्वाभिन्ने मायिकनानात्वप्रतीत्युपपत्तेः। द्वौ चन्द्रावित्यत्रेव न पारमार्थिकभेदकल्पनावकाशः तथा चायं प्रयोगः। अयं द्रव्यगुणादिभेदव्यवहारः सर्वभेदानुगतजात्यात्मकैकवस्तुमात्रावलम्बनः। भेदव्यवहारत्वाद्विचन्द्रभेदव्यवहारवदिति। तस्मान्नाचेतनं सचेतनं वा किंचिदपि परमात्मनो भिन्नमुपपद्यते। 'स एष इह प्रविष्टः' 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इत्यादिश्रुत्या प्रवेष्टुरविकृतस्यैव जीवरूपेण प्रवेशप्रतिपादनात्। तथा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मैकोद्भवत्वब्रह्मसामान्यब्रह्मैकप्रलयत्वादिहेतुभिरूर्णनाभ्यादिदृष्टान्तेनाकाशादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वप्रतिपादनात् 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति च कण्ठत एवाद्वितीयत्वोक्तेः। एवं च सदाकारप्रत्यक्षमभेदव्यवहारत्वलिङ्गं सार्वात्म्यश्रुत्यन्यथानुपपत्तिश्चेति प्रमाणत्रयमुक्तम्। विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकायामनुसंधेयाः। तस्मान्न विघ्न इत्यादिना साध्वेवोक्तमद्वितीयत्वम्॥ हरिपक्षे तु। अर्कादिशब्देन तत्तदवच्छिन्ना देवतात्मान उच्यन्ते। 'य एवासावादित्ये पुरुष एत देवाहं ब्रह्मोपासे' इत्यादिनाऽजातशत्रवे दृप्तबालाकिनोपदिष्टाः बृहदारण्यके कौषीतकिब्राह्मणे च प्रसिद्धाः। परिच्छिन्नत्वादिदोषेणाब्रह्मत्वं चैषां तत्रैवाजातशत्रुणा प्रतिपादितम्। 'सहोवाचाजातशत्रुरेतावन्न्वित्येतावद्धीत्ति नैतावता विदितं भवति' इत्यादिना। अन्यत्सर्वं समानम्॥ २६॥

संस्कृत टीका

हे विभो ! (त्वं अर्कः) भवानेव सूर्य्यः (त्वं सोमः) त्वमेव चन्द्रोऽसि (त्वमसि पवनः) त्वमेव वायुरसि (त्वं हुतवहः) त्वमेव अग्निरप्यसि (त्वं आपः) भवानेव जलं (त्वं व्योम) आकाशमपि भवानेव (त्वं उ धरणिः) उ-इति वितर्के त्वमेव पृथिव्यासि (आत्मा त्वं) त्वमेव परमात्मा, क्षेत्रज्ञो, यजमानरूपो वासि । (इति च) इति-पदं समाप्तौ, चकारः समुच्चये (परिणताः) परिपक्वबुद्धयः (त्वयि) भवतो विषये (एवं) अनेन प्रकारेण (परिच्छिन्नां) इयत्ताकलितां (गिरं) वाचं (बिभ्रतु) धारयन्तु, वदन्त्वि त्यर्थः । अननुमतावपि अनुमति-प्रकाशने लोट् । क्वचित् लट्लकारस्यापि प्रयोगो लभ्यते तत्रापि न काचि त्क्षतिरिति । वस्तुतस्तु सर्वथैतदनुचितमेवेति भावः । तर्हि त्वं किमुचितं वेत्सीत्याशङ्क्याह-(वयं) अस्मत्समानबुद्धयोऽन्येऽपीतिबहुवचनम् (तु) इति हेत्ववधारणे (इह) विश्वस्मिन् (तत्) त्वद्भिन्नमन्यत् (तत्त्वं) किंचिदपि वस्तु (न विद्मः) नैव जानीमः (यत्) तत्त्वं (त्वं) भवान् (न भवसि) नासि । परिपक्वबुद्धिमन्तस्तु त्वामष्टमूर्त्तिरूपेणैव स्तुवन्तु, परं वयं भवन्तं सर्वात्मकरूपेणैव विद्म., अस्माकं मते त्वद्भिन्नमन्यत्किञ्चिदपि नास्तीति भावः स्पष्ट एव। अष्टमूर्त्युल्लेखनञ्च रघुवंशटीकायां कृतं मल्लिनाथसूरिणा-"अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्ते-''रित्यत्र, तद्यथा—

"पृथिवी सलिलं तेजो, वायुराकाशमेवच ।
सूर्याचन्द्रमसौ सोम-याजी चेत्यष्टमूर्त्तयः-इति यादवः ।"

अत्राष्टमूर्त्तिवर्णनप्रसङ्गेन भगवतः सर्वस्वरूपत्व-सर्वात्मकत्वादिविशिष्टगुणानां वर्णनरैव तत्तद्रूपगतमहामाहिमसूचनयापि विशिष्टाद्वैतरूपता मापादितवन्त आचार्य्या इति । एवमेव स्कन्दपुराणे माहेश्वरखण्डारुणाचलमाहात्म्येप्युक्तं २४ अ०यथा-

"खंवायुरनलोवारिभूः सूर्यशशिनौ पुमान् ।
इति मन्मूर्तिभि र्विश्वं भासते सचराचरम्" ॥ २६ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

त्वमेवसूर्य्योऽसि शशी त्वमेव, त्वमेव वायुर्हुतभुक् त्वमेव ।
त्वमेव पानीयमथासि भूमि-रात्मा त्वमेवासि न कोऽपि चान्यः ॥
एताभियत्ताकलितां गिरं त्वयि, वदन्तु सर्वे परिपक्वबुद्धयः ।
परन्न विद्मो वयमस्ति तत्कचि, त्तत्त्वं भवे त्वद्व्यतिरिक्तमत्र यत् ॥२६॥

भाषा टीका

हे भवगन् ! (त्वं अर्कः) आपही सूर्य हैं (त्वं सोमः) आपही चन्द्रमा हैं (त्वं असि पवनः) आपही वायु हैं (त्वं हुतवहः) आप-ही अग्नि हैं (त्वं आपः) आपही जल हैं (त्वं व्योम) आपही आकाश हैं (त्वं उ धरणिः) आपही पृथिवी हैं (च त्वं आत्मा) और आपही आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ परमात्मा अथवा यजमान रूप हैं (इति) यह अव्यय पद समाप्ति सूचक है-अर्थात् इतनांहि भर (परिणताः) पक्की बुद्धिवाले (त्वयि) आपके विषयमे (एवं) इस प्रकारसे (परिच्छिन्नां) संकुचित अथवा ढँपीहुई (गिरं) वाणिको (बिभ्रतु) धारणकरैं, अर्थात् कहाकरैं-परंतु (वयं तु) हमलोग तो (इह) इस सचराचर संसारमें (तत् तत्त्वं) उस तत्त्वको (न विद्मः) नहीं जानते हैं (यत् त्वं न भवासि) जो तत्त्व आप नहीं हैं । भावार्थ यह है कि, जिनकी बुद्धि बड़ी पक्की है वे लोग आपको अष्टमूर्ति-रूपसे कहते हैं पर हम लोगोंके ऐसे कच्ची बुद्धिवालोंकी समझमें तो आपसे भिन्न कुछ दूसरा दीखताही नही हैं सब कुछ आपही हैं-जैसाकि दुर्गा सप्तशतीमें कहाभी है कि—

"यच्च किञ्चित्कचिद्वस्तु, सदसद्वाखिलात्मिके !
तस्य सर्वस्य या शक्तिः, सा त्वं किं स्तूयसे सदा ।"

अर्थात् कहीं परभी जो कुछ सच्चा अथवा झूठा वस्तु है उन सबकी शक्ति तुम्ही हो अत एव तुमारी स्तुति कैसे की जा सकती है ? यही अभिप्राय यहां पर भी है कि हमलोगोंकी समझमें तो सब कुछ आपही हैं, आपसे भिन्न तो कुछ हई नही है ।

"करि विचार देखहु मन मांही ।
तुमते बिलग कतहुं कछु नांही ॥" (तु० रा०)

पूर्वश्लोकमें विद्वानोंके अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणसे ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धि और परमानन्दरूपता प्रतिपादन की गई है-अत एव इस श्लोकमें तर्कद्वारा भी उसी ब्रह्मकी सर्वात्मकता और अद्वैतता सिद्ध की है-यहां पर यह शंका होती है कि यदि-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म-" यह वेदवाक्य सही है तो फिर-घड़ा लोटा छाता कपड़ा-इत्यादि के ज्ञान हो जानेसे भी ब्रह्मज्ञान हो जावेगा और इस ब्रह्मज्ञान होजाने परभी मुक्ति का पाना सिद्ध होना चाहिए--तो उसका समाधान यह है कि, जब तक इन सब अचेतन अथवा सचेतनमें तुमको भेद दीखता रहेगा तब तक तुम निर्वाण पदके अधिकारी नहीं होसकते-हां जब तुमारे हृदयसे भेदबुद्धि निकल जावेगी और तुमको-"सर्वं ब्रह्ममयं जगत्-" दिखलाने लगेगा तो तुम घड़ा-कपडा उसे नहीं कहोगे-वरन ब्रह्मही समझने लगोगे-तब तुम केवल मुक्तिके अधिकारी ही नहीं तुरत जीवन्मुक्त हो जावोगे। बस ॥२६॥

भाषापद्यानुवाद:

रवि ससि वायु आगिनि जल, धरनि आतमा व्योम ।
अष्ट मूर्ति धरि तुमहि हौ, व्यापक जग प्रति रोम॥
बुद्धिमन्त इमि कहत हैं, तुमको सबहि बुझाय ।
मो जानत (हम जानै) अस तत्व नहि, जो तुमसो बिलगाय ॥२६॥

भाषाबिम्बम्

तुही सूर्ज सोमो पवन तुमही आगि (अग्नि) तुमहो,
तुही पानी भूमी गगन तुम आत्मा तुमहि हो ।
यही भाषैं एके चतुर मतिवाले तुमहिको,
हमारे जानैमें अस कछु नहीं जो तुम न हो ॥ २६ ॥

त्रयीं तिस्रो वृत्ती स्त्रिभुवन मथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यै र्वर्णै स्त्रिभि रभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभि रवरुन्धान मणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्यो मिति पदम् ॥ २७॥

❀ मधुसूदनी टीका ❀

एवं प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिभिराद्वितीयत्वं परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वेन प्रसाध्य तदेवागमेनापि साधयन्स्तौति-अथवा क्रमेण पूर्वश्लोकद्वये त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च परिशोध्यानेन श्लोकेनाखण्डं वाक्यार्थं वदन्स्तौति--

त्रयीमिति । हे शरणद आर्ताभयप्रद, ओमिति पदं त्वां सर्वात्मानमद्वितीयं गृणाति अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च प्रतिपादयति । अत एवोंकारस्यावयवशत्या वाक्यत्वेऽपि समुदायशक्त्या पङ्कजादेरिव पदत्वमुपपन्नं योगरूढिस्वीकारात् । तदस्वीकारेऽपि 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति वैयाकरणपरिभाषया पदत्वं 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इत्यनेन समासस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञाविधानात्सुबन्तत्वमुपपन्नमेव । कीदृशमोमिति पदम् । समस्तं अकारोकारमकाराख्यपदत्रयकर्मधारयसमासनिष्पन्नम् । एतेन समुदायशक्तिरुक्ता । तथा व्यस्तं भिन्नम् । अकार-उकार-मकाराख्यस्वतन्त्रपदत्रयात्मकमित्यर्थः । एतेनावयवशक्तिरुक्ता । इदं च पदद्वयमभिधेयेऽपि योज्यम् । त्वां कीदृशम् । समस्तं सर्वात्मकं, तथा व्यस्तमध्यात्माधिदैवादिभेदेन भिन्नतया प्रतीयमानम् । तथाच व्यस्तमोमिति पदं व्यस्तं त्वां गृणाति, समस्तमोमिति पदं समस्तं त्वां गृणातीत्युक्तं भवति । एतदेव दर्शयति-त्रयीमित्यादिना । त्रयीं देवत्रयं, तिस्रो वृत्तयो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या अन्तःकरणस्यावस्थाः । एतच्च विश्वतैजसप्राज्ञानामप्युपलक्षणम् । त्रिभुवनं भूर्भुवःस्वः । एतदपि विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृतानामुपलक्षणम् । त्रयः सुराः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । एतच्च सृष्टिस्थितिप्रलयानामप्युपलक्षणम । एतच्च सर्वमकाराद्यैस्त्रिभिर्वर्णैरभिदधदभिधावृत्त्या प्रतिपादयद्व्यस्तमित्यर्थः । एवमन्न प्रकारः ।

ऋग्वेदो जाग्रदवस्था भूर्लोको ब्रह्मा चेति चतुष्टयमकारार्थः । तथा यजुर्वेदः स्वप्नावस्था भुवर्लोको विष्णुश्चेति चतुष्टयमुकारार्थः । तथा सामवेदः सुषुप्त्यवस्था स्वर्लोको महेश्वरश्चेति चतुष्टयं मकारार्थः । इदं माण्डूक्यनृसिंहतापनीयाथर्वशिखादावन्यदप्युक्तं गुरूपदेशाज्ज्ञातव्यम् । अतिरहस्यत्वान्नेह सविशेषमुच्यते । तस्मादध्यात्माधिदेवाधिवेदाधियज्ञादियावदन्यत्रोक्तमस्ति तत्सर्वमत्रोपसंहर्तव्यं न्यूनतापरिहाय । तथाच सर्वप्रपञ्चाकारेण व्यस्तं त्वां अकारोकारमकारैर्व्यस्तमोमिति पदमभिदधत्त्वां गृणातीति सम्बन्धः । तथा तीर्णविकृति सर्वविकारातीतं तुरीयं अवस्थात्रयाभिमानिविलक्षणं तव धाम स्वरूपं अखण्डचैतन्यात्मकम् । तवेति राहोः शिर इतिवद्भेदोपचारेण षष्ठी । अणुभिर्ध्वनिभिरवरुन्धानं स्वत उच्चारयितुमशक्यैरर्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणवशेन निष्पाद्यमानैः सूक्ष्मशब्दैरवबोधं कुर्वत्प्रापयत् । समुदायशक्त्या बोधयदिति यावत् । अर्धमात्राया एकत्वेऽपि ध्वनिभिरिति बहुवचनं प्लुतोच्चारणे चिरकालमनुवृत्तायास्तस्या अनेकध्वनिरूपत्वान्न विरुद्धम् । ध्वनीनां चाणुत्वाणुतरत्वाणुतमत्वादिकं गुरूपदेशादधिगन्तव्यम् । तथाचार्धमात्रारूपेण समस्तमोमिति पदं समुदायशक्त्या सर्वविकारातीतं तुरीयं स्वरूपमभिदधत् समस्तं त्वां गृणातीति सम्बन्धः । एवं च पदार्थाभिधानमुखेनाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरर्थादुक्ता । तथाहि स्थूलप्रपञ्चोपहितचैतन्यमकारार्थः, तत्र स्थूलप्रपञ्चांशत्यागेन केवलचैतन्यमकारेण लक्ष्यते । तथा सूक्ष्मप्रपञ्चोपहितचैतन्यमुकारार्थः, तत्र सूक्ष्मप्रपञ्चांशत्यागेनोकारेणोपलक्ष्यते । तथा स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयकारणीभूतमायोपहितचैतन्यं मकारार्थः, तादृशमायांशपरित्यागेन मकारेण चैतन्यमात्रं लक्ष्यते । एवं तुरीयत्वसर्वानुगतत्वोपहितचैतन्यमर्धमात्रार्थः, तदुपाधिपरित्यागेनार्धमात्रया चैतन्यमात्रं लक्ष्यते । एवं चतुर्णां सामानाधिकरण्यादभेदबोधे परिपूर्णमद्वितीयचैतन्यमात्रमेव सर्वद्वैतोपमर्देन सिद्धं भवति । लक्षणया परित्यक्तानां चोपाधीनां मायातत्कार्यत्वेन मिथ्यात्वात्, स्वरूपबोधेन च स्वरूपाज्ञानात्मकमायातत्कार्यनिवृत्तेर्न पृथगवस्थानप्रसङ्गः । नह्यधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरमापतदध्यस्तमुपलभ्यते त्रय्यादीनां वाक्यार्थबोधानुपयोगेऽप्युपासनायामुपयोगात्पृथगभिधानं द्रष्टव्यम् । तस्मात्सर्वं द्वितीयशून्यं प्रत्यगभिन्नं

ब्रह्म प्रणववाक्यार्थ इति सिद्धम्। एतच्च सर्वेषां तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानामुपलक्षणम्। तेषामपि प्रत्यगभिन्नपरिपूर्णाद्वितीयब्रह्मप्रतिपादकत्वात्। यथा च शब्दादपरोक्षनिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते ॥ *हरिपक्षेप्येवम्* ॥ २७ ॥

संस्कृत टीका

(त्तीर्णविकृति) सर्वविधविकारातीतं निर्विकारमितियावत्। (तुरीयं) अवस्थात्रितयपरं चतुर्थं (तव धाम) भवतोऽखण्डचैतन्यात्मकं ज्योतिः स्वरूपं। भेदोपचारेणात्र षष्ठी। (अणुभिः) परमसूक्ष्मैः (ध्वनिभिः) शब्दैः (अवरुन्धानं) व्याप्नुवत्। अर्थात् स्वत उच्चारयितुमशक्यतया अर्द्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणतां गतैः सूक्ष्मध्वनिभिरवबोधं कुर्वत्। (समस्तं) सर्वात्मकतया समुदायशक्त्या वा समासयुक्तं। तथा च (व्यस्तं) भिन्नतया अवयवशक्त्या वा प्रतीयमानं (ओमिति पदं) ओङ्करः प्रणवो वा (त्वां) भवन्तमेव। अत्रापि समस्तं व्यस्तञ्चेति योजनीयं (गृणाति) कथयति, प्रतिपादयतीत्यर्थः। अत्र सर्ववेदादितत्त्वस्योङ्कारस्यापि वाच्यो भवानेवेति महिमसूचनं प्रकटितमिति। माण्डूक्योपनिषदि च ओंकारमाहात्म्यं द्रष्टव्यमिति। शिवपुराणस्य वायवीयसंहितोत्तरभागस्थसप्तमाध्यायेऽ२३ श्लो० ३१ स्पष्टमुक्तं ॥ २७ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

वेदत्रयीं त्रिभुवनं त्रितयं सुराणां,
वृत्तीरुदात्त-शयनप्रमुखाश्च तिस्रः।
वर्णैस्त्रिभिः-अ-उ-म-रूपधरैः सुवाच्यैः,
कर्णप्रियै रभिदधन्मृड! निर्विकारम् ॥

अत्यन्तसूक्ष्मै र्ध्वनिभिः समस्तै,र्यद्व्याप्नुयद्धाम तुरीयसंज्ञम्।
तद्व्यापकं सर्वत एव खण्ड, रूपेण य द्व्याप्यमपि प्रसिद्धम्।
आद्यन्तहीनं (शून्य) स्वयमेव जात, मशेषवाग्जालविधानसूत्रम्।
तदेतदोङ्कारपदं भवन्तं, स्तौतीश ! नित्यं प्रणतार्तिहारिन् ॥ २७ ॥

भाषा टीका

(शरणद !) हे आर्तलोगोंको अभय देनेवाले ! (अकाराद्यैः) अकार, उकार, मकार नामक (त्रिभिः) तीन (वर्णैः) अक्षरोंसे (त्रयीं) तीनों वेद अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदको, तथा (तिस्रोवृत्तीः) जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, और सुषुप्ति-अवस्थाओंको, अथवा उदात्त, अनुदात्त, और स्वरितोंको, एवं (त्रिभुवन) तीनोंही लोक-भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक, अथवा स्वर्ग-मर्त्य और पाताल को (अथो) तदनन्तर (त्रीन् सुरान् अपि) तीनों देवतोंको अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको (अभिदधत्) कहताहुआ (तीर्णविकृति) सब प्रकारके विकारोंसे रहित, अर्थात् निर्विकार (तुरीयं) तीनों अवस्थाओंसे परे रहनेवाला-चौथा (तव धाम) आपका अखंड तेज (अणुभिः) अत्यंतछोटी (ध्वनिभिः) ध्वनियोंसे (अवरुन्धानं) व्याप्तहुआ (समस्तं) सर्वात्मक होनेसे थोड़ा वा छोटा । तथा (व्यस्तं) भिन्नभिन्नहोनेसे विस्तार युक्त अथवा बड़ा (ओं इति पदं) ओंकार (त्वां) आपहीको (गृणाति) कहता है अर्थात प्रतिपादन करता है । अभिप्राय यह कि ओंकारमें अकार, उकार और मकार तीन अक्षर मिले हैं येही तीनों अक्षर संसारके समस्त तीन वस्तुओंके कारण है-यथा

तीन गुण	सत्व,	रज,	तम ।	
,, देव	ब्रह्म	विष्णु,	महेश ।	
,, शक्ति	सरस्वती,	लक्ष्मी,	काली ।	
,, लोक	स्वर्ग,	मर्त्य,	पाताल ।	
,, वेद	ऋक्,	यजुर्,	साम ।	
,, द्विज	ब्राह्मण,	क्षत्रिय,	वैश्य ।	
,, अवस्था	जाग्रत्,	स्वप्न,	सुषुप्ति ।	
,, वयः क्रम	बाल्य,	यौवन,	वार्धक्य ।	
,, श्रेणी	उत्तम,	मध्यम,	अधम ।	
,, परमात्मा	विराट्,	हिरण्यगर्भ,	अव्याकृत	वेदांतशास्त्र।
,, जीवात्मा	विश्व,	तैजस,	प्राज्ञ ।	
,, प्रकरण	सुबन्त,	तिङन्त,	कृदन्त ।	

[व्याकरणमें]

,,	वैदिकस्वर	उदात्त,	अनुदात्त,	स्वरित ।
,,	वायु	शीतल,	मंद,	सुगंध ।
,,	ऋतुकाल	शीत,	उष्ण,	वर्षा ।
,,	वैदिककांड	ज्ञान,	कर्म,	उपासना ।
,,	पुण्यनदी	गंगा,	यमुना,	सरस्वती ।
,,	ऋण	देवऋण,	ऋषऋण,	पितृऋण ।
,,	ताप	आध्यात्मिक,	आधिदैविक,	आधिभौतिक ।
,,	वर्ग	धर्म,	अर्थ,	काम ।
,,	राजशक्ति	प्रभाव,	उत्साह,	मंत्र ।
				[नीतिशास्त्र]
,,	ब्रह्मरूप	सत्,	चित्,	आनंद ।
,,	नाडी	इडा,	पिंगला,	सुषुम्णा ।
				[योगशास्त्र]
,,	धातु	कफ,	वात,	पित्त ।
				[वैद्यकशास्त्र]
,,	तौर्य	नृत्य,	गान,	वाद्य ।
				[गांधर्ववेदशास्त्र]
,,	नायिका	स्वकीया,	परकीया,	सामान्या ।
				[साहित्यशास्त्र]
,,	बृहत्काव्य	नैषधचरित,	शिशुपालवध,	किरातार्जुनीय ।
,,	लघुकाव्य	मेघदूत,	कुमारसम्भव,	रघुवंश ।
,,	लोकदशा	सृष्टि,	स्थिति,	विनाश ।
,,	प्रधानतीर्थ	काशी,	प्रयाग,	गया ।
,,	प्राणायाम	कुम्भक,	पूरक,	रेचक ।
,,	समय	दिन,	रात्रि,	संध्या ।
,,	जीववर्ग	स्त्री,	पुरुष,	नपुंसक ।
,,	कर्म	कायिक,	वाचिक,	मानसिक ।
,,	मुक्तिसाधन	भक्ति,	ज्ञान,	वैराग्य ।
,,	मोक्षप्राप्ति	ब्रह्मज्ञान,	योगाभ्यास,	काशी ।
,,	प्रकाशक	सूर्य,	चन्द्र,	अग्नि ।

,, अक्षर	स्वर,	व्यंजन,	संयुक्त ।	व्याकरणशास्त्र
,, उच्चारण	ह्रस्व,	दीर्घ,	प्लुत ।	
,, काल	भूत,	भविष्य,	वर्तमान ।	
,, वचन	एकवचन,	द्विवचन,	बहुवचन ।	
,, पुरुष	प्रथमपुरुष,	मध्यमपु०	उत्तमपु० ।	
,, प्रस्थान	सभाष्यगीता,	पंचदशी,	ब्रह्मसूत्र । [वेदान्तशास्त्रे]	

सर्वादिसिद्धशब्द —

ओम् । तत् । सत् इतिनिर्देशोब्रह्मणस्त्रिविधो मतः । गीता ।

स्कन्दपुराणनागरखंड-हाटकेश्वरमाहात्म्य अ० १९९ ।

तीन क्षेत्र	कुरुक्षेत्र,	हाटकेश्वर,	प्रभास ।
,, अरण्य	पुष्करारण्य,	नैमिषारण्य,	धर्मारण्य ।
,, पुरी	वाराणसी,	द्वारका,	अवन्ती । (उज्जैन) ।
,, वन	वृन्दावन,	खांडववन,	द्वैतवन ।
,, ग्राम	कल्पग्राम,	शालिग्राम,	नंदिग्राम ।
,, तीर्थ	अग्नितीर्थ,	शुक्लतीर्थ,	पितृतीर्थ ।
,, पर्वत	श्रीशैल,	अर्बुद (आबु)	रैवतक ।
,, नदी	गंगा	नर्मदा	सरस्वती । (लपक्षोद्भवा) ।
त्रिफला	अवरा	हर्रा	बहेरा ।
त्रिकटुक	,,	,,	,,
तीन उपवेद	धनुर्वेद	गान्धर्ववेद,	आयुर्वेद,
तीन प्रधानमत	हिन्दू,	मुसलमान,	कृस्तान,
तीनसेगे	दीवानी	फौजदारी,	माल (गवर्न्मेंटकोर्ट)
,, दीवानीकेबहदे	सदराला,	जज,	हाईकोर्टकेजज
,, फौजदारिके ,,	मजिस्ट्रेट	जज्ज,	हाईकोर्ट,
,, मालके	कलेक्टर	कमिश्नर,	बोर्ड
,, प्रधानभाषा	हिन्दी,	पारसी,	अंगरेजी

,, परमपूज्य	माता,	पिता,	गुरु।
,, तर्पणीय	पिता,	पितामह,	प्रपितामह
	माता,	पितामही,	प्रपितामही,
	मातामह,	प्रमातामह,	वृद्धप्रमातामह
,, मौसिम	गर्मी	जाडा	वरसात
,, परीक्षा	प्रथम,	मध्यम,	आचार्य
परीक्षा	इन्टॅन्स,	इन्टर (ए० फे)	व्याचुलर (बी० ए०)
,, प्रेमास्पद	पुत्र,	मित्र,	कलत्र,
,, महावीर	हनुमान्,	भीष्म,	अर्जुन।
,, अग्नि	गार्हपत्य,	आहवनीय,	दक्षिण।
तनिदेह	स्थूल,	सूक्ष्म,	कारण
मुनित्रय	पाणिनि,	कात्यायन,	पतंजलि
			(व्याकरणाचार्य)
,, वाक्ययोजक,	कर्ता,	कर्म,	क्रिया।
,, वृत्ति	अभिधा,	लक्षणा	व्यञ्जना
			(साहित्यशास्त्र)
,, वंशकर्ता	सूर्य,	चन्द्र,	अग्नि
			(क्षत्रियवंशकारक)
,, राम	परशुराम,	रामचन्द्र,	बलराम,।
,, प्रबलसुरारि	हिरण्यकशिपु	रावण	शिशुपाल।
,, चमत्कार	सूर्य,	अग्नि,	बिजुली।
,, जप	मानसिक,	उपांशु,	शाब्दिक।
,, दानपात्र	दीन (दरिद्र)	अनाथ,	विद्यार्थी।
,, महादान	अन्न,	जल,	विद्या।
,, महावाक्यकेशब्द,	अहं	ब्रह्म	अस्मि,
अथवा	तत्	त्वं	असि
,, अवश्यकर्तव्य	यज्ञ,	दान,	तप,।
,, कर्मफल	इष्ट,	अनिष्ट,	मिश्र,।
,, समस्तविषय	ज्ञान,	ज्ञेय,	ज्ञाता।
,,	कर्म,	करण,	कर्ता।
,, समस्तविषय	प्रमाण,	प्रमेय,	प्रमाता।

,, दर्शन,		दृश्य,	द्रष्टा । (इत्यादि)
,, मनुष्यभेद	परमार्थी,	स्वार्थी,	राक्षस (व्यर्थी)
,, उपदेश	नाम,	लक्षण,	परीक्षा (न्यायशास्त्र)
,, प्रधान-आश्रम	ब्रह्मचर्य,	गृहस्थ,	सन्यास
,, प्राणिव्यवस्था	जलचर,	स्थलचर,	नभश्चर ।
,, अग्निकेगुण,	रूप,	स्पर्श,	शब्द ।
,, मुख्यसंस्कार	यज्ञोपवीत,	विवाह,	मरण
,, शास्त्रार्थ	वाद,	जल्प,	वितण्डा ।
,, प्रधानपूज्य	ऋत्विक्,	पुरोहित,	आचार्य ।
,, प्रचालितपूज्य	जल,	अग्नि,	पृथिवी (मृत्तिका)
,, हिन्दुधर्मचिन्ह	शिखा,	सूत्र,	तिलक ।
,, प्रधानसंग्राम	देवासुर	रामरावण	महाभारत ।
वैद्यक	निघण्टु	निदान	चिकित्सा ।

इसी भांति यदि विचार पूर्वक देखाजावे तो सब कुछ त्रयान्तर्गतही सिद्ध होता है-अत एव समग्र तीन-अकार उकार मकारात्मक एक ओंकारहीके रुप दृष्टि-गोचर होते हैं-इन समस्त तीनोंसे परे तुरीय (चौथा) धामही परमेश्वरका है-। सृष्टिके आदिमें जब परं ज्योति प्रकट हुई तो उसीकी महाध्वनिका नाम ओंकार पड़ा है-यह कथा काशीखंडके ७३। ७४ वें अध्यायोंमें ओंकारेश्वरके वर्णनमें विस्तर पूर्वक पायी जाती है। भाव यह है कि-ओंकार पदके वाच्य आपही हैं-क्योंकि वही ओंकार समासयुक्त होकर आपको समस्त कहता है, और व्यासयुक्त होने पर आपहीको व्यस्त बतलाताहै-अत एव आपकी सर्वात्मकता और अद्वितीयता प्रत्यक्ष-अनुमान और अर्थापत्ति-इत्यादिसे सिद्ध रहने परभी आगमद्वारा प्रकट है ॥ २७ ॥

भाषापद्यानुवादः

तीन वेद अरु वृत्तित्रय, त्रिभुवन तीनहु देव ।
अकारादि अच्छर कहत, तुहिं विकार नहि लेव ॥
अनु ध्वनिते अवरुद्ध है, चौथा धाम तुहार ।
भाषत व्यस्त समस्त नित, सरनद ! तुहिं ओंकार ॥ २७ ॥

❀ भाषाबिम्बम् ❀

त्रिवेदोंके गाये त्रिभुवन परे तीन सुरसो ।
अकारादी वर्ने कहत विकृतीहीन जिहिको ॥
अहै चौथा धामै रहत अति सूच्छ्मै (क्ष्मै) ध्वनि भरो,
सदा गावै तोरी स्तुति गिरिश ! ओंकारपद सो ॥ २७ ॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपति रथो ग्रः सहमहां
स्तथाभीमे शाना विति यद भिधानाष्टकमिदम् ।
अमुष्मि न्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुति रपि
प्रियाया स्मै धाम्ने प्रविहितनमस्यो ऽस्मि भवते २८

❀ मधुसूदनी टीका ❀

एवं तावदद्वितीयब्रह्मवाचकत्वेन प्रणव उपन्यस्तः एतस्य चार्थानुसंधानं जपश्च समाधिसाधनत्वेन पतञ्जलिना सूत्रितः 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति । 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति सूत्रान्तरं 'तस्य वाचकः प्रणवश्च' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इति सूत्राभ्यां प्रणवजपस्य प्रणिधानशब्दार्थत्वेन व्याख्यानात् । श्रुतौ च 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥' इत्यादिना तस्य सर्वपुमर्थहेतुत्वमुक्तम् । एतस्य चातिदुरूहार्थत्वेन स्त्रीशूद्राद्यनर्हत्वेन चासाधारणत्वात्सर्वसाधारणानि प्रसिद्धानि भगवद्वाचकानि पदानि जपार्थत्वेन वदन् स्तौति— ०।

भव इत्यादि । हे शरणद, हे देव, इदं यदभिधानाष्टकं नामाष्टकं अमुष्मिन्नभिधानाष्टके विषये प्रत्येकमेकैकशः । प्रतिनामेति यावत् ।श्रुतिर्वेदः प्रविचराति प्रकर्षेण बोधकतया चरति । वर्तत इत्यर्थः । अपिशब्दात्स्मृतिपुराणागमादिकमपि । अथवा प्रणव इवामुष्मिन्नपि श्रुतिः प्रविचरतीति योज्यम् । यद्यप्यष्टाध्यायार्थकाण्डे वह्निनामत्वेनैतानि समाम्नातानि तथापि वह्नेर्भगवद्विभूतित्वात्तन्नामत्वेऽपि न भगवन्नामत्वव्याघातः । यद्वा अमुष्मिन्नामाष्टके देवानां ब्रह्मादीनामपि श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं प्रविचरति सावधानतया वर्तते ।

देवा अपि त्वन्नामश्रवणोत्सुकाः किं पुनरन्य इत्यर्थः । किं तन्नामाष्ट- कमित्यत आह-भव इत्यादि । महता महच्छब्देन सह वर्तत इति सहमहान्महादेवः तथैवागमप्रसिद्धः । इतिशब्दः समाप्त्यर्थः । यस्य च नाममात्रमपि सर्वपुरुषार्थप्रद स पुनः स्वयं कीदृश इति भक्त्यु- द्रेकेण प्रणमति । प्रियायेत्यादिना ; अस्मै स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन सर्वदा परोक्षाय भवते महेश्वराय । कीदृशाय । धाम्ने सर्वेषां शरण- भूताय चिद्रूपायेति वा । योग्यमुपचारं किमपि कर्तुमशक्नुवन्नहं केवलं प्रविहितनमस्योऽस्मि प्रकर्षेण वाङ्मनःकायव्यापारातिशयेन विहिता नमस्या नमस्क्रिया येन स तथा (केवलं तुभ्यं कृतनम- स्कारो भवामीत्यर्थः ।) प्रणिहितेति पाठेऽप्येवमेवार्थः ॥ *हरिप- क्षेऽप्येवम्* । भवादीनां च हरिनामत्वं योगवृत्त्या संभवत्येव सहस्र- नामस्तुतिपठितत्वाच्चेति द्रष्टव्यम् । अथवा यदिदमभिधानाष्टकं अमुष्मिन्प्रत्येकं देवश्रुतिरपि देवशब्दोऽपि प्रविचरति संबद्धो भव- ति । तथा च भवदेव इत्यादिरूपं तव रहस्यनामाष्टकमित्यर्थः । त- थाच भवस्य रुद्रस्यापि देव आराध्य इत्यर्थः । एवमन्येष्वपि नामसु द्रष्टव्यम् ॥ २८ ॥

संस्कृत टीका

(देव !)दीव्यतीति देवः—"पचाद्यच्"--३ । १ । १३४ । हे ली- लाविग्रहधारिन्! (भवः) भवतीति भवः । भवते वा सर्वं, भू—प्राप्तौ [चु० आ० से०] अत्रापि "पचाद्यच्" । (शर्वः) शृणातीति शर्वः [क्र्या० प० से०]--"कृगृशृदृभ्यो वः" १ । ११५ उ० । (रुद्रः) रो- दयतीति रुद्रः । "रोदेर्णिलुक्च—" २ । ११ उ०--इति रक्प्रत्ययः णेश्चलोपः । (पशुपतिः) पशूनां स्थावरजङ्गमानां पतिः । अथवा-- "ब्रह्माद्याः पशवः प्रोक्तास्तेषां पतिरसौ स्मृतः ।" (अथ) ततः परं (उग्रः) उच्यति क्रुधा सम्बध्यते इति उग्रः । उच—समवाये [दि० प० से०] "ऋज्र—" २ । २८३०- इत्यादिना रन् गश्चान्तादेशः । (सहमहान्) महता शब्देन सह वर्तते इति सहमहान्, अर्थान्म- हादेवः । महान् देवो रत्नादिकं खेलनं यस्य स महादेवः । अथवा शिवपुराणोक्तैवास्य व्युत्पत्तिः, कार्या—यथा,—

> "पूज्यते य स्सुरैस्सर्वै महाँ श्चैव प्रमाणतः ।
> धातु महेति पूजायां, महादेवस्ततः स्मृतः ।"

देवशब्दस्तु सम्बुद्धिपद एव व्याख्यातः। (तथा) तद्वत् (भीमेशानौ) बिभेत्यस्मात् भीमः-"भीमादयो ऽपादाने-" ३।४ ७४। पुनः-"भियः षुक्वा-" १। १४८उ०-इति मक्। "भीमोऽम्लवेतसे घोरे शम्भौ मध्यमपाण्डवे-" इति च कोशः। एवं-ईष्टे-इति ईशानः-"ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्-" ३।२।१२९ इति चानश्प्रत्ययः। (इति)-समाप्ति सूचनायां (इदं) कथ्यमानं (यत्) प्रसिद्धं (अभिधानाष्टकं) नामाष्टकं, अष्टौ नामानि सन्तीति वा। (अमुष्मिन्) अभिधानाष्टके (श्रुतिरपि) वेदपुरुषो ऽपि (प्रत्येकं) एकं एकं नाम प्रति (प्रविचरति) प्रकर्षेण बोधकतया विचरति वर्तते इत्यर्थः। अत एव (प्रियाय) स्वमनोनुकूलाय (अस्मै) पूर्वोक्तप्रणवप्रतिपाद्याय तुरीयतेजसे (धाम्ने) ज्योतीरूपाय (भवते) तुभ्यं (प्रणिहितनमस्यः) उचितोपचारं कर्तुमशक्नुवन्नहं विहितनमस्कारः (अस्मि) भवामि। क्वचित् प्रणिहितेत्यत्र प्रविहितेति पाठो ऽपि दृश्यते तत्राप्यर्थः स्पष्ट एव। अत्रोक्तश्लोकत्रितयान्तर्गतप्रकारविशेषो द्रष्टव्यः—क्षितिमूर्तिः शर्वः १ जलमूर्तिर्भवः २ अग्निमूर्ती रुद्रः ३ वायुमूर्तिरुग्रः ४ आकाशमूर्तिर्भीमः ५ यजमानमूर्तिः पशुपतिः ६ चन्द्रमूर्तिर्महादेवः ७ सूर्यमूर्तिरीशानः ८-एवं प्रणवाद्या नमोन्ता अष्टौ मूर्तयो मन्त्ररूपेण जप्या इति विज्ञापितं-"त्वमर्कः"-"त्रयी"-मिति पूर्वोक्तपद्यद्वयेन सदामुना श्लोकेनेति सुधीभिरवधेयम्। अत्र यस्य नाममात्रमपि परमपुरुषार्थप्रदं वेदप्रतिपादितं च वरीवर्त्ति स स्वयं कीदृग्? इति महामहिमाऽवबोधितः एतच्च स्पष्टमुक्तं शिवपुराणे वायवीयसंहितोत्तरार्द्धे चतुर्थाध्याये श्रीकृष्णं प्रत्युपमन्युमहर्षिणेति ॥२८॥

संस्कृतपद्यानुवादः

शर्वो भवः पशुपतिः पुन रुग्ररूप
ईशानभीमयुतरुद्रमहादिदेवाः।
नामाष्टकं प्रथितमेतदतीव शम्भो!
देवा ष्टमूर्त्तिधर! शङ्कर! दीनबन्धो!॥
प्रत्येक मस्मि न्तव नाम विस्तरा-
ञ्छ्रुत्या परिस्तौ त्यपि वेदपूरुषः।

धाम्नेऽथ तस्मै भवते भवे ऽव !
नित्यं नमस्याः शतशो हि मत्कृताः ॥२८॥

भाषा टीका

(देव !) हे देवाधिदेव ! (भवः शर्वः रुद्रः पशुपतिः अथो उग्रः सहमहान् तथा भीमेशानौ इति) भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव, भीम, और ईशान-(यत् इदं अभिधानाष्टकं) यह जो आपके आठ नाम हैं (अमुष्मिन्) इन आठो नामोंमें (प्रत्येकं) प्रत्येक नाम को (श्रुतिः अपि) स्वयं वेदभी—यहां पर "अपि" कहनेसे यह बोध होता है कि जब वेदही कहता है तो पुराण इतिहास इत्यादि की कौन गनती है। (प्रविचरति) बहुत बड़ी बोधकतासे चलता है—अर्थात् विशेष प्रचार करता है । (अस्मै प्रियाय धाम्ने भवते प्रणिहितनमस्यः अस्मि) अत एव-इस अपने परम इष्ट तेजो रूप आपको केवल प्रणाम करने वाला हूं ।—अभिप्राय यही है कि-ऊपर जो आठ नाम कहे गये हैं—इनमें प्रत्येक नामोंको लेकर वेद पुरुषभी आपका स्तुति गान करताहै, अर्थात् ये आठों नाम वेद—प्रतिपादित हैं और आप हमारे इष्टदेव ज्योतिरूप हैं,अत एव इन आठों नामोंके मंत्र द्वारा मैं केवल आपको प्रणाम करता हूं क्योंकि और कोई पूजा अथवा सेवा मुझसे नहीं हो सकती है। विशेष द्रष्टव्य यह है कि इसके पूर्व श्लोकमें ओंकार का निरूपण किया है और उसकेभी पूर्व "त्वमर्कः" [२६] इत्यादि श्लोकमें भगवानकी अष्टमूर्तियोंका निरूपण हुआ है-अर्थात् पहिले अष्टमूर्तिका वर्णन करके तब ओंकार पदके वाच्य वाचक रूपको दरसाया है तदनन्तर परमेश्वरके नामाष्टकको कीर्तन करके प्रणाम किया है·इससे यह बात पाई जाती है कि अष्टमूर्तिके कथित एक एक रूपोंके साथ ओंकारके सहित अ ठों नामोंके एक एक नामोंमें चतुर्थ्यन्त नमः प्रयोग करनेसे आठ मंत्र बन जाते हैं-उनमें जो लोग ओंकारके अधिकारी नहीं हैं उन लोगोंको केवल इस श्लोकके कहे हुए आठों नामोंके मंत्रोको जो जिसके अनुकूल हों गुरुके उपदेशानुसार जप करना चाहिए-अत्यन्त रहस्य विषय होनेसे मन्त्रोंका प्रकार जना दिया गया है—विज्ञ भावुक लोग स्वयं उनका उद्धार बनाले सकते हैं । ये ही आठों नाम-मंत्र कहलाते हैं ।

भाषापद्यानुवादः

सर्व रुद्र भव पसुपती, महादेव ईसान।
उग्र भीम-ये विदित हैं, तुव आठहु अभिधान ॥
इनमें नित प्रति एकको, वरनत वेद महान।
परम ज्योति चैतन्य तुहिं, करहुँ प्रनाम बखान ॥ २८ ॥

भाषा विम्बम्

भवो भीमो रुद्रो पसुपति महादेव सरवो,
इसानो उग्रो हैं कहत सब नामा-इक यही।
यहीमें प्रत्येकैं स्तुति करत वेदौ तुमहि को,
नमस्या है मोरी नित परम-ज्योती तनु लगी ॥ २८ ॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति सर्वाय च नमः २९

मधुसूदनी टीका

एवं जातभक्त्युद्रेको नमस्कारमेवानुवर्तयन्दुरूहमहिमत्वेन भगवन्तं स्तौति—

नम इति। हे प्रियदव अभीष्टनिर्जनवनविहार, ते तुभ्यं नेदिष्ठायात्यन्तनिकटवर्तिने, दविष्ठायात्यन्तदूरवर्तिने च नमोनमः। हे स्मरहर कामान्तक, क्षोदिष्ठाय क्षुद्रतराय, महिष्ठाय महत्तराय च तुभ्यं नमोनमः। तथा हे त्रिनयन त्रिनेत्र, वर्षिष्ठाय अतिवृद्धाय वृद्धतरायेति वा यविष्ठाय युवतमाय च तुभ्यं नमोनमः। एवमत्यन्तविरुद्धस्वभावस्यालपबुद्धिभिः कथमपि स्वरूपनिर्णयासंभवात्सर्वदा नमस्कार एव करणीय इति प्रदर्शनाय नमस्कारशब्दावृत्तिः। तथाच श्रुतिः-'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च' 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेनाञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' इत्यादि। तथा किंबहुना सर्वस्मै सर्वरूपाय तुभ्यं नमः 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति श्रुतेः।

ननु तर्हि सर्वविकाराभिन्नत्वाद्विनाशित्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य, सर्वस्याध्यस्तत्वेन वास्तवभेदाभावात्सर्वबाधाधिष्ठानत्वेन च श्रुतिषु सामानाधिकरण्येन व्यपदेशादद्वितीयस्य ब्रह्मणो न विकारगन्धोऽपि संभाव्यत इत्यभिप्रायेण नमस्कुर्वन्नाह—तदिदमितिसर्वाय च नम इति । तत्परोक्षमिदमपरोक्षमित्यनेन प्रकारेणानिर्वाच्यं सर्वं यत्र स तदिदमितिसर्वस्तस्मै । बहुव्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वान्न सर्वनामता । तेन सर्वाधिष्ठानभूताय तुभ्यं नम इत्यर्थः ॥*हरिपक्षेऽप्येवम्*। केवलं संबोधनत्रयमन्यथा व्याख्येयम् । प्रियाणि वैषयिकसुखानि वैराग्योद्बोधेन दुनोति नाशयतीति प्रियदवः । तथा च स्मरो वासना तं हरतीति स्वभक्त्युद्रेकेणेति स्मरहरः । तथा त्रयाणां लोकानां नयनवत्सर्वार्थावभासकत्वात्त्रिनयन इति प्रागपि व्याख्यातम् ॥ २९ ॥

संस्कृत टीका

(प्रियदव !) हे निर्जनवनविहारिन् ! (नेदिष्ठाय) अतिशयेनान्तिकः नेदिष्ठः—"अतिशायने तमबिष्ठनौ"—५ । ३ । ५५-इत्यत इष्ठन्प्रत्ययः सर्वत्रैवामुष्मिन्पद्ये बोध्यः । अत्रतु-"अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ—"५ । ३ । ६३ इति नेदादेशो विशेषः । अत्यन्तनिकटवर्तिन इत्यर्थः (ते) तुभ्यं (नमः) (तथैव दविष्ठाय) अतिशयदूरवर्तिने (च) ते (नमः) हे (स्मरहर !) कामान्तक !-"हरः स्मरहरो भर्ग-"इत्यमरः (क्षोदिष्ठाय) क्षुद्रतराय-"स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादि परं पूर्वस्य च गुणः,"-६ । ४ । १५६-इत्यत एवोभयत्रापि यणादिलोपगुणौ । ते (नमः) एवं (महिष्ठाय च नमः) महत्तराय च भवते नमः । (त्रिनयन !) हे त्रिलोचन ! (वर्षिष्ठाय) अतीव वृद्धाय । अत्र-"प्रियस्थिर"-६ । ४ । १५१-इत्यादिना वृद्धस्थाने वर्षादेश एष विशेषः । ते (नमः) अथ (यविष्ठाय च नमः) अतिशयेन युवा इति यविष्ठस्तस्मै-अत्रापि पूर्वोक्त-"स्थूलदूर-" इत्यादिनैव यणादिलोपगुणौ । (सर्वस्मै ते नमः) किम्बहुना सर्वस्वरूपाय सर्वात्मकाय वा भवते नमः (इति) अनेन प्रकारेण (तत्) मत्कृतं (इदं) क्रियमाणं सर्वं (नमः) नमस्कारः (शर्वाय) शिवाय भवत्विति शेषः । क्वचिदन्त्यादिरपि लभ्यते यथा सर्वायेति, तत्र "षर्व गतौ"—अथवा"षर्व हिंसायां [भ्वा० प० से]

इत्येताभ्यां धातुभ्यां बवयोरभेदात् "पचाद्यचि"—३।१।१३४-इत्यतः सर्वोऽपि भवति। तथा चात्र शिवपर्य्यायत्वाच्च सर्वनामता। यथा चोक्तमपि नामनिधानकोशे- "सर्वस्तु शर्वो- भगवान् शम्भुः कालञ्जरः शिवः।" क्वचित् अतिसर्वायेत्यपि पाठः। परन्तु तत्-परोक्षमिद-मपरोक्षमिति-अनेन प्रकारेण अनिर्वाच्यं सर्वं यत्र स-तदिदमिति सर्वः तस्मै- तदिदमितिसर्वायेत्येकं पदं। अत्र बहुव्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वाच्च सर्वनामतेति सर्वं विवेचनीयं विचक्षणैरेवमेवोक्तं भगवद्गीतायामपि—

"नमः पुरस्तादथ पृष्ठत स्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः"

(४०अ०११) अमुत्र-"अणोरणीयान् महतो महीयान्-"इत्यादिरूपां श्रुतिमवलम्ब्यैव भगवतः सर्वात्मकत्वं सर्वाधिष्ठानभूतत्वादि च सम्यक् प्रतिपाद्य सर्वविधमहिमशालिनेऽष्टमूर्तयेऽष्टधा नमः प्रयोगोऽतिशयभक्तिमत्तामेव द्रढयति कविरिति ॥२९॥

संस्कृतपद्यानुवादः

नमो निकटवर्तिने प्रियवनाय तुभ्यं नमो,
नमः परमदुस्तराय च शिवाय देवाय ते।
नमो लघुतराय ते मदनमानविध्वंसिने,
महामहिमशालिने महिततेजसे ते नमः॥
नमोऽस्तु ते वृद्धतराय शम्भवे,
युवस्वरूपाय च बालकाय वा।
शर्वाय सर्वातिशयाय सर्वतः,
सर्वस्वरूपाय भवेन्नमो नमः ॥२९॥

भाषा टीका

(प्रियदव) हे आनन्दकाननविहारिन्! (नेदिष्ठाय नमः) अत्यंत निकटमें रहनेवाले आपको नमस्कार है, तथा-(दविष्ठाय च नमः) बहुतही दूरवर्त्ती आपको नमस्कार है। (स्मरहर) हे कामनाशक! अथवा स्मरण करते मात्र दुःखोंके हरण करने वाले! (क्षोदिष्ठाय नमः) अत्यन्त छोटे रूप आपको नमस्कार है (महिष्ठाय च नमः) और बहुतही बड़े रूप आपको नमस्कार है, (त्रिनयन!) हे त्रिलोचन!-तथा चन्द्र-सूर्य-अग्नि हैं नेत्र जिसके-जैसाकि कहाभी है—'वन्दे

वह्निशशाङ्कसूर्यनयनं"—अथवा तीनों ही लोकों में है नयन [नीति] जिसका- वर्षिष्ठाय नमः) अतिशय वृद्ध आपको नमस्कार है,तथा च (यविष्ठाय च नमः) परम तरुण आपको नमस्कार है, एवं च (सर्वस्मै ते नमः) सर्व स्वरूप आपको नमस्कार हैं (तत् इदं नमः शर्वाय च इति) यह सब मेरा किया हुआ नमस्कार शर्वस्वरूप आपको निवेदित है—अथवा सबकिसीके अतिक्रमण करनेवाले शर्व भगवानको नमस्कार है। अभिप्राय स्पष्ट है कि आपही सब कुछ हैं और आपही सबकिसीके रूप हैं अतएव आपहीको मैं प्रणाम करता हूं—क्योंकि आप अत्यंतविरुद्ध स्वभाव होनेसे कदापि निर्णीत नहीं होसकते-अर्थात् हमलोग जैसे क्षुद्रबुद्धिवालोंका कियां हुआ यह निर्णय नहीं होसकता कि आप क्या हैं ? किंवा कैसे हैं ? तब और क्या करसकते हैं—केवल वारंवार प्रणामभर करते हैं—विशेषता यह है कि पूर्व में अष्टमूर्त्ति और अष्टनामोंको कहकर इस श्लोकमें आठ वार नमस्कार करनेसे साष्टांग दण्डवत्प्रणाम लिखनेकी पुर्णविधि दिखलाई है—इसमें आठ वार "नमः" पदके प्रयोग होनेसे महापुनरुक्ति दोष आपड़नेकी आशंका नहीं करनी चाहिए—क्योंकि परमेश्वरकी दुरूह महिमाको सोचकर कविने अपनी परम भक्तिके उद्रेकको प्रकट किया है-अतः यह दोष नहीं है वरन वहुत भारी गुण—अथवा अलंकार होगया हैं ईश्वरके सर्वशक्तिमान होनेसे उसके विरुद्ध स्वभाव को रामायणमें भी इस प्रकारसे कहा है—

"आदि अंत कोउ जासु न पावा, मति अनुमान निगम अस गावा।
पद विनु चलै सुनै विनु काना, कर विनु कर्म करै विधिनाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, विनु बानी वक्ता वड जोगी।
तनु विनु परस नयन विनु देखा, गहै घ्रान विनु बास असेषा।
अस सब भांति अलौकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहि वरनी।"

इत्यादि (तु० रा०)

भाषापद्यानुवादः

नमो नगीची देव जो, दूरवर्ति पुनि होय।
नमो कामरिपु ! क्षुद्र है, रहत (बनत) बहुत बड़ जोय॥

नमो बूढ़ते बूढ़ जो, त्रिनयन ! महानुभान ।
नमो सर्ब-मय सर्बते, ऊपर सर्ब महान ॥ २९ ॥

भाषाबिम्बम्

नमो पासै-वासी प्रियवन ! महादूर बसहू,
नमो छोटेरूपी बहुत-बड-भारी तुमहिंको ।
नमो बूढे बाबा जुबक-तनु-धारी गिरिराजु,
सबै रूपै धारैं तिनहि प्रभु सबैं नमत हौं ॥ २९ ॥

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः ।
जनसुखकृते सत्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः ॥३०॥

मधुसूदनी टीका

अधुना पूर्वोक्तसर्वार्थसंक्षेपेण नमस्कुर्वन्स्तुतिमुपसंहरति—

बहलेति । विश्वोत्पत्तौ विश्वोत्पत्तिनिमित्तं बहलं तमःसत्वाभ्यामधिकं रजो यस्य तस्मै उद्रिक्तरजसे भवत्यस्माज्जगदिति भवो ब्रह्ममूर्तिस्तस्मै तुभ्यं नमोनमः । तथा तत्संहारे तस्य विश्वस्य संहारनिमित्तं प्रबलं सत्वरजोभ्यामनभिभूतमुद्रिक्तं तमो यस्य तस्मै हरतीति हरो रुद्रमूर्तिस्तस्मै नमोनमः । तथा जनानां सुखकृते सुखनिमित्तम् । कृतशब्दोऽव्ययो निमित्तवाची । सत्वस्योद्रिक्तावुद्रेके रजस्तमोभ्यामाधिक्ये स्थितायेत्यर्थो लभ्यते । 'सत्वोद्रेके' इति वा पाठः । अथवा सत्वोद्रिक्तौ सत्यां जनानां सुखं करोतीति जनसुखकृत्तस्मै । यद्वा सुखस्य कृतं करणम् । भावे क्तः । तस्मिन् तन्निमित्तम् । एवं व्याख्याने प्रक्रमभङ्गदोषो न भवति पूर्वपर्यायद्वये उत्तरपर्याये च सप्तम्यन्तनिमित्तनिर्देशात् मृडयति सुखयति मृडो विष्णुस्तस्मै । पालनस्यैवोद्दिष्टत्वात् [illegible] निर्देशः । एवं गुणत्रयोपाधीन् [illegible] प्रणमति । प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः इति निर्गुणं [illegible] तस्मिन्पदे [illegible] [illegible] । [illegible] । प्रमहसि प्रकृष्टं [illegible]

महो ज्योतिर्यस्मिंस्तत्तथा सर्वोत्तमप्रकाशरूपत्रिगुणशून्यमोक्षनिमित्तमित्यर्थः। शिवाय निस्त्रैगुण्यमङ्गलस्वरूपाय 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इति श्रुतेः। प्रमहसि पदे स्थितायेति वा। *हरिपक्षेप्येवम्* ॥ ३० ॥

संस्कृत टीका

हे भगवन्! (विश्वोत्पत्तौ) संसारसृजनकर्माणि (बहलरजसे) अतिशयरजोगुणपूर्णाय (भवाय) भवमूर्तये, विश्वसृड्रूपाय (नमो नमः) वीप्सायां द्वित्वं। (तत्संहारे) सर्वेषां भुवनानां प्रलयकाले (प्रबलतमसे) प्रकृष्टतरतमोगुणालङ्कृताय (हराय) हरतीति हरः।—"पचाद्यच्—"३।१।१३४–"हरो नाशकरुद्रयो–" रिति मेदिनी। रुद्ररूपायेत्यर्थः। (नमोनमः) बहुशो नमस्कृतयः। (सत्त्वोत्पत्तौ) सत्वगुणे जायमाने सति (जनसुखकृते) समस्तप्राणिसुखकर्त्रे यद्वा जनसुखस्य कृतं करणं तस्मिन्–भावे क्तः। अर्थाज् जनसुखकरणनिमित्तमिति। अथवा कृते इति तादर्थ्येऽव्ययं तेन जनसुखार्थमित्यर्थः स्पष्टः। (मृडाय) मृडतीति मृडः–मृड सुखने, [तु० प० से०]–"इगुपधज्ञाप्रीकिरः"–३।१।१३५–इत्यतः कप्रत्ययः। तस्मै सुखप्रदाय सर्वजगत्परिपालकाय विश्वम्भरमूर्तये (नमोनमः) नमस्काराः सन्तु। (निस्त्रैगुण्ये) निर्गतं त्रैगुण्यं यस्मात् तत्, निस्त्रैगुण्यं–गुणत्रयातीतं तस्मिन् (प्रमहसि) प्रकृष्टं माययाऽनभिभूतं महः तेजो यस्मिन् तत्तथा, अत्युज्वलज्योतिर्मये–इत्यर्थः (पदे) परमपदे। वर्तमानायेति योजनीयम्। (शिवाय) परमानन्दस्वरूपाय मङ्गलमूर्त्तये वा (नमो नमः) अत्राप्यष्टधा नमः प्रयोगप्रमाणादष्टाङ्गप्रणामविधिर्दर्शितो यतः स्तुत्युपसंहारोऽत्र विवक्षित इति। क्वचित्–'सत्वोत्पत्तौ'–इत्यत्र उत्पत्तिशब्दस्य पुनरुक्तिदोषत्वात्–सत्वोद्रिक्तौ, अथवा सत्वोद्रेके इत्यादिरूपः पाठोऽपि लभ्यते, एवञ्च केचित्तृतीयपदस्य द्वितीयपदत्वमपीच्छन्ति, परन्तु भव-लययोः स्वल्पकालिकत्वात् स्थितेश्च तदपेक्षयातिस्थिरत्वाद्यथोक्तमेव समीचीनमाभाति। तद्वद्विपर्ययोऽपि न साम्प्रदायिक इति विवेचनीयम्। ग्रन्थसमाप्तौ छन्दः परिवर्तनस्याचारत्वादेवात्र–"हरिणीवृत्तम्" तल्लक्षणञ्च "वृत्तरत्नाकरे" एवमुक्तं–"रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा"-इति ॥ ३० ॥

॥ संस्कृतपद्यानुवादः ॥

विश्वोत्पत्तौ बहुलरजसे स्यान्नमो मे भवाय,
तत्संहारे प्रबलतमसे श्रीहराय प्रणामः।
सत्वोद्रिक्तौ जनसुखकृते तन्नमस्ते मृडाय
निस्त्रैगुण्ये प्रमहसि पदे श्रीशिवायोन्नमो ऽस्तु ॥ ३० ॥

॥ भाषाटीका ॥

हे देव ! (विश्वोत्पत्तौ) संसारकीसृष्टिमें (बहलरजसे) बहुत विशेष रजोगुणी (भवाय) भवस्वरूप आपको (नमोनमः) बार-बार नमस्कार है। (तत्संहारे) फिर उसी संसारके प्रलय समय (प्रबलतमसे) विशेष तर तमोगुणी (हराय) हरस्वरूप आपको (नमोनमः) अनेक प्रणाम है। (सत्त्वोत्पत्तौ) सत्त्वगुण के प्रकट होने पर (जनसुखकृते) लोगोंके सुखकारी (मृडाय) मृडस्वरूप आपको (नमोनमः) पुनः पुनः नमस्कार है। एवं (निस्त्रैगुण्ये प्रमहसि पदे) तीनों गुणोंसे परे स्वयंप्रकाशरूप परम पद पर वर्तमान रहनेवाले (शिवायनमोनमः) शिव स्वरूप आपको विशेष रूपसे प्रणाम है। अभिप्राय यह कि--सृष्टि करने के लिये आपही रजोमूर्त्ति [ब्रह्मा] होते हैं और प्रलयके निमित्त तामस [रुद्र] बनते हैं एवं संसारके पालनार्थ आपही सात्विकविश्वम्भर [विष्णु] हो जाते हैं–अतएव इन तीनों गुणों के धारण करने वाले होने परभी इन तीनों गुणों के परे स्वयं प्रकाश रूपसे स्थित रहनेवाले शिव मूर्त्ति आपको वारंवार प्रणाम है–इसी भावसे कुछ कुछ मिलता हुआ–वाणाभट्टकृत–कादम्बरीका प्रथम मङ्गलाचरण इस प्रकारसे है यथा--

"रजोजुषे जन्मनि, सत्त्ववृत्तये-
स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्ग-स्थिति-नाश-हेतवे,
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः" [अर्थ स्पष्ट है]

इस मूल श्लोक में भी आठ बार "नमः" शब्दके प्रयोग से अष्टांग प्रणामकी विधि दिखलाई है– यहां पर यह शङ्का होती है कि जो सगुण होगया वह निर्गुण कैसे बन सकता है ? इसका उत्तर रामायण की चौपाई में ही है—

"जो गुन रहित सगुन सो कैसे ?
जल हिम-उपल बिलग नहि जैसे" ।

योहीं ईश्वर के स्वयं प्रकाश होनेकी वार्ता भी उसी ग्रन्थमें मिलती है ।

"सहज प्रकाश रूप भगवाना,
नहि तहँ पुनि विज्ञान विहाना" इत्यादि (तु० रा०)

भाषापद्यानुवादः

जगत सृष्टि लगि बहुत रज, धरत नमो भव जोय ।
तिहि सँहारत नमहु अति—तमोगुनी हर सोय (होय) ॥
जन पालन हित सत्त्व गुन, लहत नमहु मृड रूप ।
परम ज्योति त्रय गुन परे, प्रनवहुँ सिवहि अनूप ॥३०॥

भाषाविम्बम्

नमहु भवको सृष्टी कर्ते रजोगुन-रूपतैं,
प्रनवहु मृडे रच्छा-लागी सतो-गुन है रहैं ।
नमतहु हरैं संहारै जो तमो-गुनते भरैं,
त्रयगुन-परे तेजो-रूपै शिवाय नमो नमे ॥ ३० ॥

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकित ममन्दीकृत्य मां भक्ति राधा-
द्वरद चरणयो स्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥३१॥

मधुसूदनी टीका

एवमस्तुत्यरूपेणैव भगवन्तं स्तुत्वा स्वस्यौद्धत्यपरिहारं 'मम त्वेतां वाणीम्' इत्यत्रोपक्रान्तमुपसंहरन्नाह—

हे वरद सर्वाभीष्टदेत्युपसंहारे योग्यं संबोधनम् । तव पादयोर्मद्वाक्यपुष्पोपहारं भक्तिराधात् त्वद्विषया रतिरर्पितवती । यथा पुष्पाणि मधुकरेभ्यः स्वमकरन्दं प्रयच्छन्त्यन्येषामपि दूरात् गन्धमात्रेण प्रमोदमादधति तथैतानि स्तुतिरूपाणि वाक्यानि भक्तिरसिकेभ्यो भगवन्माहात्म्यवर्णनामृतरसं प्रयच्छन्त्वन्येषाम-

पि श्रवणमात्रेणापि वस्तुस्वाभाव्यात्सुखविशेषमादधतीति ध्वनयितुं ज्ञापयितुं वाक्पुष्पत्वेन निरूपितम् । तथा च वाक्यान्येव पुष्पाणि तैरुपहारः पूजार्थमञ्जलिस्तमित्यर्थः । किं कृत्वा आधादित्यनेन हेतुना चकितं भीतं स्तुतेर्निवर्तमानं मामवन्दीकृत्य न मन्दममन्दं कृत्वा । बलात्स्तुतौ प्रवर्त्येत्यर्थः । तथा चान्यमत्या प्रवृत्तस्य मम स्खलितेऽपि क्षन्तव्यमित्यभिप्रायः । इतिशब्देन सूचितं भयकारणमाह—कृशेत्यादिना । कृशा अल्पा परिणतिः परिपाको यस्य तत्तथा । अल्पविषयमित्यर्थः । तादृशं मम चेतश्चित्तं ज्ञानं वा । तथा क्लेशानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां वश्यमायत्तम् । सर्वदा रागद्वेषादिदोषसहस्रकलुषितमित्यर्थः । क्लेशेनातिप्रयत्नेन वश्यमिति वा तेन त्वद्गुणवर्णनेऽत्यन्तायोग्यमित्यर्थः । गुणानां सीमा संख्यापरिमाणयोरियत्ता तामुल्लङ्घयितुं शीलं यस्याः सा गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः नित्या विभूतिः । तेनैतादृशदुर्वासनासहस्रकलुषितमित्यल्पविषयं मम मनः क, अनन्ता नित्या तव परमा विभूतिर्वा क इत्यत्यन्तासंभावना मम भयहेतुरित्यर्थः । एतदवधारणे च तव भक्तिरेव कारणमिति भक्तेरत्यन्तासंभावितफलदानेऽपि सामर्थ्यं दर्शयति । यस्मादेवं तस्मात्सर्वापराधानविगणय्य परमकारुणिकेन त्वया त्वद्विषया भक्तिरेव ममोद्दीपनीयेति वाक्यतात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

संस्कृत टीका

(वरद !) हे वरदायक! (कृशपरिणति) अत्यल्पपरिपाकशीलं (क्लेशवश्यं) दुःखाधीनं, अथवा पातञ्जलदर्शनोक्ताः पञ्चक्लेशाः यथा–“अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः । [साधनपादे३सूत्रम्] तत्र अविद्या–विद्याविरोधिनी, विपरीतज्ञानमितियावत् १। अस्मिता–कर्ताहं, भोक्ताहमित्याद्यभिमानः २ । रागः सुखसाधनेषु तृष्णारूप इच्छाविशेषः ३ । द्वेषः-दुःखसाधनेषु निन्दात्मकः क्रोधो वैरभाव इत्यर्थः ४ । अभिनिवेशः–अनुभवसिद्धैरपि मरणादिभिर्भयसञ्चारः ५ । तथा चोक्तमपि कूर्मपुराणे ब्राह्मीसंहितायां उत्तरभागे सप्तमे ऽध्याये––यथा

“अविद्यामस्मितां रागं द्वेषञ्चाभिनिवेशनम् ।
क्लेशाख्यांस्तान् स्वयं प्राह, पाशानात्मनिबन्धनात्” ॥२९॥ इति-

एतेषां पञ्चक्लेशानामायत्तं (इदं) मदीयं (चेतः) अन्तः करणं (च क्व) पुनः कुत्रास्ति अतिक्षीणविषयमित्यर्थः । एवञ्च (गुणसीमोल्लङ्घिनी) गुणमर्य्यादापारगामिनी (शश्वत्) अविनाशिनी नित्येति वा । (तव) भवतः (ऋद्धिः) विभूतिर्महिमा वा (क्व च) तथा च कुत्रास्ति । अर्थाद्भवन्महिमा तु नित्यत्वानन्तत्वादिगुणावच्छिन्नः, मदन्तः करणञ्च बहुविधदुर्वासनादिकलुषितं क्लेशवशीभूतमिति कथमुभयोस्तारतम्यं भवेत् ? (इति) अनेनैव हेतुना (चकितं) अतीव भ्रान्तं, भीतमित्यर्थः (मां, अमन्दीकृत्य) न मन्दममन्दं कृत्वा, त्रासविहीनं विधाय, बलादेव स्तवनकर्मणि नियोज्येत्यभिप्रायः (ते चरणयोः) भवतः पादयोः (भक्तिः) सेवा यथोक्तं गरुडपुराणस्य २३१ अध्याये—

"भज इत्येष वै धातुः, सेवायां परिकीर्तितः ।
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता, भक्तिः साधनभूयसी" ॥

एवञ्च पूज्येषु अनुरागातिशय एव भक्तिरर्थात्—"नहीष्टदेवात्परमस्ति किञ्चित्—" इति बुद्धिव्याप्ता चित्तवृत्तिरेव पराभक्तिः । यथोक्तमस्मद्गोत्रप्रवर्त्तकैस्तत्रभवद्भिर्महर्षिशाण्डिल्याचार्य्यैः—"भक्तिसूत्रा—" ख्ये ग्रन्थ आदावेव—"अथातो भक्तिजिज्ञासा १ । सा परानुरक्तिरीश्वरे २—" इति । भक्तिमाहात्म्यवर्णनादिकं श्रीमद्भगवद्गीता—भागवतादिषु तथान्येष्वपि पुराणादिषु सर्वत्रैव यथावदूहनीयं विस्तरभयान्नेहोल्लिख्यते । सा भक्तिरेव (वाक्यपुष्पोपहारं) वाक्यान्येव कथितस्तुतिपद्यान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारः पूजोपायनं तं (आधात्) प्रत्यर्पयदित्यर्थः । तेनैतदवधारणे भवतो भक्तिरेव कारणमित्याख्यातम् । अत्र भक्तिमहिम्नैव स्तोतृत्वमुररीकृत्य भक्तेरेव सर्वथाऽसम्भावितफलदातृत्वसामर्थ्यमस्तीति प्रकटितम् । तथा च मदीयापराधपुञ्जमविगणय्य त्वदीयपादभक्तिरेव मदर्थमुद्दीपनीयेति च ध्वनयति वाक्यतात्पर्य्यार्थः तस्मात्—

"या प्रीतिरविवेकानां, विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे, हृदयान्मापसर्पतु" ॥

[विष्णुपुराणे-अं० १ अ० २० श्लो० १८ उक्ता] इतिरूपा भक्तिः प्रार्थना च स्फुटीकृता स्तोत्रोपसंहार इति । मालिनीवृत्तमेवेत्यतः श्लोकचतुष्टयपर्य्यन्तं-तल्लक्षणन्तु—"न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी

भोगि-लोके-"रिति वृत्तरत्नाकरोक्तमेवेति ॥ ३१ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

क मे चेतः शम्भो ! कृशपरिणति क्लेशवशग,
समृद्धिस्ते नित्या क्वचन गुणसीमान्तकरणी ।
इतीश ! त्रस्तं मां तव चरणयोर्भक्ति रकरो-
दमन्दीकृत्यैवं वचनकुसुमाभ्यर्चनविधिम् ॥ ३१ ॥

भाषाटीका

(वरद !) हेवरदायक ! (क्लेशवश्यं) नानाप्रकारके क्लेशोंके आधीन (च) और (कृशपरिणति) अति क्षीण परिणाम वाला अ-र्थात् स्वल्पविषयक (इदं) यह मेरा (चेतः क ?) चित्त कहाँ ? और (गुणसीमोलङ्घिनी) गुणों के सिवानोंको नाघजानेवाली (शश्वत्) सदा वर्तमान रहने वाली अर्थात् अविनाशिनी (तव ऋद्धिः च क ?) आपकी महिमा किंवा विभूति कहाँ ? (इति) इसी कारण से (चकितं) घबराये हुए अथवा डरते हुए (मां) मुझको (अमन्दीकृत्य) ढीठा बनाकर (ते चरणायोः भक्तिः) आपके चरणोंकी भक्ति ने (वाक्यपुष्पोपहारं) वचन रूपी पुष्पों से पूजनका उपहार (आधात्) रक्खा, वा समर्पण कराया । अभिप्राय यह कि आपकी अतुलनीय महिमा को देखता हुआ अनेक प्रकारकी दुर्वासनाओंसे कलुषित और दुःखमय मेरा चित्त आपके गुणगान करने में बहुत डरता था पर आपहीके चरणों की भक्तिने ढाढ़स देकर यह वाक्यरूपी पुष्पोंका उपहार [नजर] आपके चरणों पर रखवाया है अर्थात् केवल आपकी भक्तिके भरोसे 'यह महिम्न-स्तोत्र रचा गया है--वास्तवमें इस स्तोत्र के प्रत्येक पदमें भक्ति-रसकी धारा वह रही है—क्योंकि जैसे फूल भवरों को अपना रस चखाते और दूसरे लोगोंकोभी दूरहीसे अपने सुगन्धसे आनन्दित करते हैं, वैसेही इस स्तोत्र के वाक्यभी भक्ति रसिक भक्त जनोंको तो भगवान की महिमाके वर्णन रूप अमृत रसको पिलाते ही हैं पर दूसरेभी सुननेवाले लोगों को कविताके प्रसाद-माधुर्यादिगुणों तथा अर्थोंकी गम्भीरता और विशेषतः श्रुतिमधुरतासे परम आ-ह्लादित कर देते हैं—अथवा अंजलिमें लेने से जैसे फूल दोनों हाथों

को एक समान सुगन्धित कर देता है जैसाकि कहा है "अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोय ।" (तु० रा०) वैसे इस स्तोत्र के वाक्य भी पाठकरने वालोंके मुख और हृदयको शुद्ध करदेते हैं-यहाँ रूपकालंकार है । भाव यह कि—भक्तिहीने आप के चरणों पर वाक्य पुष्पोपहार चढ़ाया है-और आप वरदायक हैं अत एव वर देकर उस भक्तिहीको अचला बनादीजिये । भक्तिके विषयमें प्रधान ग्रन्थ भगवान् शांडिल्याचार्यका बनाया हुआ "भक्ति सूत्र" है-इसके अतिरिक्त भगवद्गीता भागवत रामायण अथवा अठारहों पुराण और उपपुराणादिकों में केवल भक्तिहीकी महिमा भरी हुई है अधिक उदाहरण इस छोटी सी पुस्तिकामें नहीं लिखे जा सकते क्योंकि विस्तार (बढ़जाने) का भय है तथापि दिग्दर्शन मात्र करादिया जाता है-यथा—

"जाते वेगि द्रवौं मैं भाई, सो मम भक्ति भक्त सुखदाई ।
सो स्वतंत्र अवलंब न आना, जेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना—"
इत्यादि (तु० रा०)

इसके नवोंभेदभी स्वयं रामचन्द्रने शवरीसे कहे हैं यथा—

"नवधा भक्ति कहौं तोहि पांही, सावधान सुनु धरु मन मांही ।
प्रथम भक्ति संतन कर संगा, दूसरि इति मम कथा प्रसंगा ।
गुरु-पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान ।
चौथि भक्ति मम गुनकथन, करै कपट तजि गान ॥
मंत्रजाप मम दृढ़ विस्वासा, पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।
षट दम सील विरत बहु कर्मा, निरत निरंतर सज्जन धर्मा ।
सतईं सब मुँहि मय जग देखै, मोते संत अधिक करि लेखै ।
अठईं यथा लाभ संतोषा,-सपनेहु नहि देखै पर दोषा ।
नवम सरल सबसो छलहीना, मम भरोस हिय हरख न दीना ।
नव महं एकहु जिन्हके होई, नारि पुरुष सचराचर कोई ।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे, सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे ॥"
इत्यादि (तु०रा०)॥

भाषापद्यानुवादः

अल्प-विषय यह चित्त कहँ, महाक्लेस आधीन ।
कहँ गुन-सीमा लाँघती, तुव महिमा अति पीन ॥

8726

इमि सोचत लखि (अति) चकित मुहिं, करि प्रवृत्त तुव भक्ति।
वाक्य पुष्प उपहार दिय, चरन चढ़ावन सक्ति ॥ ३१ ॥

भाषाबिम्बम्

दुरबल परिनामा है कहाँ चित्त दुःखी,
कहँ तुव गुन-सीमा नाँघती है समृद्धी।
इहि विधि डर खाते भक्ति कीन्ही सिहारा,
धरहुँ चरन तोरे बैन-फूलोंकि माला ॥ ३१

असितगिरिसमं स्या त्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्र मुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणाना मीश पारं न याति ॥३२॥

संस्कृत टीका

(ईश !) हे सर्वसमर्थ ! भवतो गुणलिखनार्थं (सिन्धुपात्रे) समुद्ररूपायां मसिधान्यां (असितगिरिसमं) नीलाचलतुल्यं (कज्जलं) मसी (स्यात्) भवेत्। तथाच (सुरतरुवरशाखा) कल्पवृक्षस्य महती शाखा (लेखनी) कलमः स्यात्–लिखधातो र्ल्युट्, ततश्च ङीष्। एवं (उर्वी) पृथिवी (पत्रं) लेख्यपत्रं भवेत्। एतदुक्तरूपं सर्वमुपकरणं (गृहीत्वा) धृत्वा सुसज्जीकृत्येत्यर्थः (शारदा) सरस्वती देवी-अस्या व्युत्पत्तिस्तु "तिथ्यादितत्त्वो" क्तैव ज्ञेया, यथा—

"शरत्काले पुरा यस्मान्नवम्यां बोधिता सुरैः।
शारदा सा समाख्याता, लोके वेदे च नामतः॥" इति॥

(यदि) चेत् (सर्वकालं) अनुक्षणं (लिखति)–"लोडर्थलक्षणे च" ३।३।८–इत्यतो लट्। (तदपि) तथापि (तव) भवतः (गुणानां) गुणगणगणनानां (पारं) अन्तं सीमानमिति यावत् नैव गच्छतीति। अत्र सिन्धुरूपमसिधान्यां नीलगिरिं कज्जलं कृत्वा कल्पवृक्षशाखया लेखन्या समस्तभूमण्डलरूपे पत्रे स्वयं भगवती वाग्देवी यदि प्रतिक्षणमपि भवतो गणगणनालिखनप्रसङ्गे समुद्युक्ता

प्यसमर्थैव भवति चेत्तर्हि का कथास्मादृशां पामरपुङ्गवानामिति स्तोत्रपूर्त्तिरुपादिष्टा। एतावदेव महिम्नस्तोत्रमेतदग्रं च स्तोत्रस्य कर्तृनाम-फलादिकं निगद्यते, वृत्तवार्ता तु पूर्वोक्तैवेति ॥ ३२ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

शम्भो ! भवेदर्णव एव पात्रं, मसी भवेन्नीलगिरिः समस्तः ।
स्याल्लेखनी कल्पतरोश्च शाखा, पत्रं प्रकीर्णा पृथिवी समन्तात् ॥
विहाय वीणारटनादिकृत्य, मनुक्षणं स्याल्लिखने प्रवृत्ता ।
श्रीशारदा नेति तथापि पारं, भवद्गुणानां करुणाम्बुराशे ! ॥ ३२ ॥

भाषा टीका

(ईश !) हे सर्वसमर्थ ! [आपके गुणोंके लिखने के लिये] (सिन्धुपात्रे) समुद्ररूप मसीदानी [दावात] में (असितगिरिसमं कज्जलं स्यात्) नीलगिरिके समान कारिख [रोशनाई] होवे। और (सुरतरुवर शाखा) कल्पवृक्षकी भारी डार (लेखनी) कलम होवे, योंही (उर्वी पत्रं) पृथिवी मंडल पत्र [कागद] होवे (यदि) जौ [अगरचे] इन सबको (गृहीत्वा) लेकर (शारदा) स्वयं सरस्वती देवी (सर्वकालं) हरघडी (लिखति) लिखती रहें (तदपि) तौभी (तव गुणानां) आपके गुणोंके [महिमाके] (पारं न याति) पार नहीं जासकतीं—भाव स्पष्टहै कि समुद्रको मसीदानी बनाकर उसमें नीलपर्वतको कज्जल बनावे, और कल्पवृक्षकी शाखाको कलम बनाकर इस भूमंडल रूप पत्र पर स्वयं शारदा देवी प्रतिक्षण आपके गुणोंकी गणना लिखें तौभी पार नहीं पासकतीं-तब हम ऐसे क्षुद्रलोगोंके साधारण सामग्री लेकर लिखनेसे आपकी महिमाका अन्त लगा देना कैसे साध्य होसकता है ? येही बत्तीसो [दंत संख्यक] श्लोक पुष्यदन्ताचार्यके बनाये हुए हैं- इन्हीको पूर्व पद्यमे "वाक्यपुष्पोपहार" कह आये हैं-इनके आगे वाले आठ श्लोक फलस्तुति कहलाते है। यहां पर शारदाका नाम इस लिये कहदिया है कि उन्हींके कृपासे मैं इतना भीलिख सकाहूं-यही बात रामायण में इस भांतिसे कहीगई है—यथा—

"भक्त हेतु विधि भवन विहाई, सुमिरत सारद आवत धाई ।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ।

हृदय सिंधु मति सीप समाना, स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौ बरषै वर वारि विचारू, होहिं कवित मुकता मनि चारू।"

इत्यादि (तु० रा०)

भाषापद्यानुवादः

मसिदानी अर्नव बनै, मसी नील-गिरि होय।
कल्पवृच्छकी साखकै, बनै लेखनी जोय॥
लिखै भूमितल पत्र पै, तुमरो गुन दिन-रात।
पावति पार न सारदा, ईश! अंत रहि जात॥ ३२॥

भाषाबिम्बम्

जलनिधि मसिदानी नील सैलै मसी हो,
कलप द्रुरुम (विरिछ) साखा लेखनी पत्र भूमी।
लिखहि जदपि लैकै सारदा नित्य तासों,
तदपि तुव गुनोंके नाथ! पारे न जाती॥ ३२॥

असुरसुरमुनीन्द्रै रर्चितस्ये न्दुमौले-
र्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्ये श्वरस्य।
सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो
रुचिर मलघुवृत्तैः स्तोत्र मेत च्चकार॥ ३३॥

संस्कृत टीका

(असुरसुरमुनीन्द्रैः) दानवदेवमुनिश्रेष्ठैः पातालस्वर्गमर्त्यलोकनिवासिभि स्सर्वैरेवेत्यर्थः (अर्चितस्य) पूजितस्य। भगवतः (इन्दुमौलेः) चन्द्रशेखरदेवस्य (ग्रथितगुणमहिम्नः) ग्रथिता गुम्फिता गुणाना मैश्वर्य्यादीनां महिमानो यस्य स ग्रथितगुणमहिमा—तस्य (निर्गुणस्य) निर्गुणस्वरूपस्यैव (ईश्वरस्य) विश्वेश्वरदेवस्य (एतत्) कथ्यमान कथितं वा परममनोहरं रम्यं वा (स्तोत्रं) नाम्ना महिम्नस्तोत्रं (सकलगुणवरिष्ठः) अशेषगुणकलाभिः श्रेष्ठताङ्गतः। क्वचित्-सकलगणवरिष्ठ इत्यपि पाठो दृश्यते (पुष्पदन्ताभिधानः) पुष्पदन्तनामा कविः (अलघुवृत्तैः) अनल्पाक्षरैः शिखरिणी-हरिणी--मालिनीछन्दोभिः (चकार)

अकार्षीदिति । अत्रादौ स्तुत्यनामोल्लेखनपुरस्सरं स्तोतृनामाति लिखनं शिष्टाचारानुमतं सर्वप्रसिद्धमेव । इत आरभ्य स्तोत्रसमाप्तिपर्य्यन्तं शिवरहस्योक्ता फलस्तुतिरेवति विज्ञेयम् ॥ ३३ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

समस्तदेवासुरयोगिवृन्दै, रभ्यर्चितस्ये न्दुकलाधरस्य ।
महामहिम्ना गुणगुम्फितस्य, गुणै र्विहीनस्य महेश्वरस्य ॥
एतत्कृतं स्तोत्र मनल्पवृत्तै, र्मनोहरं पुण्यवचः प्रवृत्तैः (युक्तैः) ।
गुणः प्रकृष्टै र्बहुशस्स्तुतेन, श्रीपुष्पदन्ताभिधकोविदेन ॥ ३३ ॥

भाषा टीका

(असुरसुरमुनीन्द्रैः अर्चितस्य) असुर-दैत्यराक्षसादि जैसे बाणासुर रावण प्रभृति, सुर-ब्रह्मा विष्णु इत्यादि, एवं मुनीन्द्र-शिवतत्त्वके ज्ञाता दधीचि वसिष्ठ इत्यादिक महर्षियोंसे पूजित (इन्दुमौलेः) भगवान् चन्द्रमौलि (ग्रथितगुणमहिम्नः) गुथी गई हैं गुणोंकी महिमायें जिसकी-ऐसे (निर्गुणस्य ईश्वरस्य) निर्गुण-स्वरूप परमेश्वरका (एतत् रुचिरं स्तोत्रं) यह बहुतही सुन्दर वा मनोहर स्तोत्र (सकलगुणवरिष्ठः) समस्तगुणोंसे [गणोंमें] श्रेष्ठ (पुष्पदन्ताभिधानः) पुष्पन्दन्त नामक कविने (अलघुवृत्तैः) बडे बडे छन्दों द्वारा (चकार) निर्माण किया । इस श्लोकमें पहिले ही असुरशब्दके रखनेसे यह सूचित किया कि सुरलोगोंकी अपेक्षा असुरगण विशेषरूपसे महादेवके सेवक हुए हैं क्योंकि विचार पूर्वक देखनेसे विभीषणादि दो एकको छोडकर सभी दैत्यराक्षसादिक कट्टर शैव जान पडते हैं। इसमें असुर सुर मुनीन्द्र-इन तीनों पदोंसे पाताल-स्वर्ग और मर्त्यलोकके रहनेवालोंका अभिप्राय प्रकट है अर्थात् त्रैलोक्यमात्रमें भगवान् चन्द्रशेखर पूजित हैं-इसीसे लिङ्ग पुराणमें यह भी कहा है कि पातालमें चरण, मर्त्यलोकमें लिङ्ग और स्वर्गमें मस्तकही श्रीशिवजीका पूजाजाता है-इसी लिये मेरे पूज्य पूर्व पुरुष पण्डित रामानन्दत्रिपाठीजीने एक स्थल पर यह लिखा है कि—

"न चक्राङ्का न पद्माङ्का, न वज्राङ्का यतः प्रजा ।
लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च, तस्मान् माहेश्वरी प्रजा ॥"

अर्थात् इस सृष्टिमें चक्र पद्म अथवा वज्रका कोई चिन्ह नहीं पाया जाता अतएव विष्णु ब्रह्मा किंवा इन्द्रकी यह सृष्टि नहीं है, इसमें लिङ्ग और भगहीके चिन्ह विद्यमान होने से यह माहेश्वरी सृष्टि है- इससे यह सिद्ध है कि सृष्टिमात्रके कारण होनेसे भगवान विश्वेश्वर सबी लोकवासियोंसे पूजित हैं उसमें भी मर्त्यलोक निवासियोंके तो एकमात्र आराध्य देव हैं, श्लोकका और सब भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

भाषा पद्यानुवादः

देव असुर मुनि-पूज्य पद, चन्द्रमौलि विस्वेस।
गुन महिमाते ग्रथित पै, निर्गुन ईस्वर वेस॥
श्रेष्ठ सकल गुनमें भयो, पुष्पदन्त अस नाम।
अलघु छन्दसे रुचिर यह, विरच्यो स्तोत्र ललाम॥ ३३॥

भाषाबिम्बम्

असुर-सुर-मुनीके पूज्य जो (हैं) चन्द्रमौली,
गुथि गुन महिमाको निर्गुनै ईश्वरै की।
सब-गुन-गन-पूरो पुष्पदन्तै कहातो,
रुचिर अलघु छन्दों-मे स्तुती को बनायो॥ ३३॥

अहरह रनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्र मेत-
त्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमा न्यः।
स भवति शिवलोके रुद्रतुल्य स्तथाऽत्र, (सदात्मा)
प्रचुरतरधनायुः पुत्रवा न्कीर्तिमां श्च॥ ३४॥

संस्कृत टीका

(यः) कश्चित् (पुमान्) नरः। तेन नारीणामनधिकारो महिम्नस्तोत्रपाठे लोकप्रसिद्धः (शुद्धचित्तः) सन् एकाग्रमानसो भूत्वा (एतत्) पुष्पदन्तकथितं (अनवद्यं) उत्तमं निर्दोषमित्यर्थः। (धूर्जटेः) महादेवस्य-धूर्भारभूता जटिंजटा यस्य, तस्य। जट-झट संघाते [भ्वा-प-से०]-"सर्वधातुभ्यः"-४। ११८ उणा०-इती-प्रत्ययः। "धूर्जटि र्नीललोहितः" इत्यमरः। (स्तोत्रं) स्तुतिं (

हरए:) प्रति दिनं नित्यानियमानुसारमित्यर्थः (पठति) पाठं करोति (सः) पाठकर्त्ता (सदात्मा) सत्यात्मा महात्मेति यावत्। अथवा सदिति उपलक्षणमेतत् तेन सच्चिदानन्दमयत्व मूहनीयं (शिवलोके) रुद्रावासे (रुद्रतुल्यः) शिवैकगणसमानः (भवति) तथात्र इत्येष पाठ एव प्राक्तनैः स्वीकृतः सदात्मेत्यत्र । तद्वदस्मिल्लोके ऽपि (प्रचुरतरधनायुः) अत्यन्तधनशाली एवं परमायुष्मान् तथा (पुत्रवान् , कीर्तिमाँश्च) वंशकर्ता, दृढकीर्तिश्च जायते। अर्थो हि इह सांसारिक मखिलं धनायुःपुत्रकीर्त्यादिसुख मनुभूयान्ते रुद्ररूपेण शिवलोके निवसतीति स्तोत्रपाठस्य फलमेव याथार्थ्येन स्पष्टीकृतमिति । वृत्तमुक्तमेव ॥ ३४ ॥

संस्कृत पदानुवादः

पठे त्परमभक्तिमान् य इह शुद्धचित्तः पुमान्,
महेशगुणगुम्फितं स्तवन मुत्तमं प्रत्यहम् ।
भवे त्स शिवपत्तने (सन्निधौ) प्रमथरुद्रतुल्य स्तथा
यशोधनसुतायुषां प्रचुरतां लभेता वनौ ॥ ३४ ॥

भाषाटीका

(यः शुद्धचित्तः पुमान्) जो कोई मनुष्य शुद्ध हृदय होकर (एतत्) इस (अनवद्यं) दोषरहित (धूर्जटेः स्तोत्रं) महादेवके स्तोत्रको (परमभक्त्या अहरहः पठति) बडी भक्तिके साथ प्रतिदिन पढ़ता है (स सदात्मा) वह महात्मा (शिवलोके) महादेवके लोकमें अथवा कैलासपर (रुद्रतुल्यः) रुद्रनामक मुख्य गणोंके समान (भवति) होता है, तथा च इस लोकमें (प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीतिमान् च) बड़ा धनी चिरंजीवी एवं पुत्रवान् तथा कीर्तिशाली होता है-इस श्लोकका भाव प्रकट है-इसमें स्तोत्रपाठका जो फल लिखा है अनुभव करनेसे बहुत ठीख उतरता है-उसमेंभी वंश चलनेके लिए इस स्तोत्रका पाठ विशेष फलदायक समझा जाता है-इस श्लोकमें 'सदात्मा'के स्थान पर 'तथात्र' पदका पाठ प्राचीन है ।

भाषापद्यानुवादः

प्रतिदिन पढ़त महेसको, जो अस तोत्र अनूप ।
शुद्धचित्त है भक्तिजुत, सो न परत भव-कूप ॥

होत संभुके लोकमें, सो नर रुद्र समान।
लहत विपुल धन आयु जस-पुत्रादिक सुख मान ॥ ३४ ॥

भाषाविम्बम्

प्रतिदिन नर जोई धूर्जटी स्तोत्रही (या) को,
पढ़त धरि सुभक्ती सुद्ध अन्तः करन्-सो
वह शिवपुर मांही रुद्रके तुल्य होवै
जग बहु धन आयू पुत्र कीर्त्यादि पावै ॥ ३४ ॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥३५॥

संस्कृत टीका

(महेशात्) महादेवात (अपरः) भिन्नः कश्चित् (देवः) सुरः (न) नास्ति। तथाच (महिम्नोऽपरा) महिम्नस्तोत्रभिन्ना अन्या (स्तुतिः) अपि (न) नास्ति। एवं (अघोरात्) अघोरमार्गात्- यथा चोक्तमपि वेदे रुद्रपाठे-"या ते रुद्र! शिवा तनूरघोरा पाप- नाशिनी-" इति तथाचाघोरपूजाप्युक्ता क्वाचित्स्मृत्यादिषु-यथा-

"भाद्रे मास्यसिते पक्षे, अघोराख्या चतुर्दशी।
तस्यामाराधितः स्थाणु,र्नयेच्छिवपुरं ध्रुवम् ॥"

अघोरमन्त्रस्तु-"ॐअघोरेभ्योऽथघोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽअस्तु रुद्ररूपेभ्यः।" अस्य मन्त्रस्य माहात्म्यम् विशेषरूपेण लिङ्गमहापुराणे द्रष्टव्यमिति ॥ (अपरः) पृथक् अन्यो वा (मन्त्रः) जपा त्क्षिप्रसिद्धिप्रदः (न) एवमेव श्री (गुरोः परं) अन्यत् किञ्चित् (तत्त्वं नास्ति) तथाचोक्तम्।

"गुरु र्ब्रह्मा गुरु र्विष्णु र्गुरु र्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षा त्परं ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥"

स्पष्टोऽत्र सर्वाशय इति ॥ ३५ ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

महेश्वरा न्नास्त्य परो हि देवः,
स्तुति र्महिम्नोऽन्य परा न काचित्।

अघोरकल्पा (मन्त्रा) दपरो न मन्त्रो, (मनुर्नो)
गुरोः परं तत्त्व मिहाऽस्ति नान्यत् ॥ ३५ ॥

भाषा टीका

(महेशात् अपरः देवः न) महादेवसे भिन्न कोई दूसरा देवता नहीं है—अर्थात् सभी उन्हके अंश—रूप है अतः उनसे बढकर दूसरा कोई नहीं है। (महिम्नः अपरा स्तुतिः न) महिम्नसे बढी चढी दूसरी कोई स्तुतिभी नहीं है। (अघोरात् अपरः मन्त्रः न) अघोरसे बडा कोई मंत्र नहीं है—इसी अघोर मतमें सावर मन्त्रभी है—यथा

"कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा,
सावर मन्त्र जाल जिन सिरिजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू,
प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।" इत्यादि (तु० रा०)

(गुरोः परं तत्त्वं न अस्ति) गुरुसे परे कोई तत्त्व नहीं है। तुलसी दासने रामायणकी पहिलीही चौपाईसे गुरुवंदना प्रारंभ की है और उत्तरकांडमें गुरुका माहात्म्य वर्णन किया है—और सभी पुराणादिकोंमें पाया जाता है।

भाषापद्यानुवादः

सिवसम अपर न देव कहुँ, महिमनसी स्तुति नाँहि।
नहि अघोरसो मंत्र जग, तत्त्व न गुरु पर जाँहि ॥ ३५ ॥

भाषा विम्बम्

महादेवसो देवता, नहि महिम्नसो स्तोत्र।
ना अघोरसो मंत्र है, गुरू तत्त्व सम कोऽन्न ॥ ३५ ॥

दीक्षा दानं तप स्तीर्थं, ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः ।
महिम्न स्तवपाठस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३६॥

मधुसुदनीटीका

इमे (३२-३६) श्लोकाः स्तोत्रान्तर्गताः सुगमाश्चेति सर्वं भद्रम् ॥
हरिशंकरयोरभेदबोधो भवतु क्षुद्रधियामपीति यत्नात् ।
उभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ॥ १ ॥

यन्नतो वक्ष्यया रीत्या कर्तुं शक्यं विधान्तरम् ।
यद्यपीह तथाऽप्येष ऋजुरध्वा प्रदर्शितः ॥ २ ॥
श्लोकानुपात्तमिह न प्रसङ्गात्किंचिदीरितम् ।
श्लोकोपात्तमपि स्तोकैरक्षरैः प्रतिपादितम् ॥ ३ ॥
महिम्नाख्यस्तुतेर्व्याख्या प्रतिवाक्यं मनोहरा ।
इयं श्रीमद्गुरोः पादपद्मयोरर्पिता मया ॥ ४ ॥
टीकान्तरं कश्चन मन्दधीरितः सारं समुद्धृत्य करोति चेत्तदा ।
शिवस्य विष्णोर्द्विजगोसुपर्वणामपि द्विषद्भावमसौ प्रपद्यते ॥५॥
भूतिभूषितदेहाय द्विजराजेन राजते ।
एकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसश्रीमद्विश्वेश्वरसरस्वतीचरणारविन्दमधुपश्रीमधुसूदन-
सरस्वतीविरचिता महिम्नस्तुतेर्व्याख्या संपूर्णा ।

संस्कृत टीका

(दीक्षा) गुरुमुखादेव स्वेष्टदेवतामन्त्रग्रहणं-यथोक्तं-"योगिनीतन्त्रे"—

"दीयते ज्ञान मत्यन्तं, क्षीयते पापसञ्चयः ।
तस्मा द्दीक्षे ति सा प्रोक्ता, मुनिभि स्तत्त्वदर्शिभिः-" इति ॥

(दानं) स्वस्वत्वपरित्याग-पूर्वकं वितरणं दानं, तदुक्तं-"शुद्धितत्त्वे" यथा-

"अर्थाना मुदिते पात्रे, श्रद्धया प्रतिपादनम् ।
दान मित्य भिनिर्दिष्टं, व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते" ॥ इति—

"श्रीमद्भगवद्गीतायां" तु सात्त्विक-राजस—तामसभेदात्त्रिविधं दानमभिहितं तद्यथा—१७ अध्याये—

[सात्त्विकं यथा-] "दातव्य मिति यद्दानं, दीयते ऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥"२०॥

[राजसं-यथा-] "यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फल मुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दानं राजसं स्मृतम्" ॥२१॥

[तामसं-यथा-] "अदेशकाले यद्दान मपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृत मवज्ञातं, त त्तामस मुदाहृतम् ॥"२२॥

एवमेव "कूर्मपुराणे" तु चतुर्विधं दानं कथितं तदपि स्मर्तव्यम्—
"नित्यं नैमित्तिकं काम्यं, त्रिविधं दानमुच्यते ।
चतुर्थं विमलं प्रोक्तं, सर्व्वदानोत्तमोत्तमम्"—
इति । उत्तरार्धे-अ० २६।४॥
एतेषां लक्षणानि तत्रैव द्रष्टव्यानि विस्तरतो नेह लिख्यन्ते। दानधर्मविषये-दानकमलाकर, दानचन्द्रिकादयो ग्रन्था द्रष्टव्या इति । (तपः)-शास्त्रोक्तविधिपूर्वकक्लेशजनकं कर्म तप इति कथ्यते। तपोमाहात्म्यं सर्वत्रैव पुराणादिषु दृश्यते, विशेषतस्तु "मत्स्यपुराणो" क्तं ज्ञेयं-यथा-
"तपोभिः प्राप्यते ऽभीष्टं, नासाध्यं हि तपस्यतः ।
दुर्भगत्वं वृथा लोको. वहते सति साधने-"इति ।
एवमेव "श्रीमद्भगवद्गीतायां" अपि-शारीर-वाचिक-मानसिकभेदात्रिविधं तपः कथितं तद्यथा १७ अध्याये दर्शनीयम् ।
[शारीरं-यथा] "देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौच मार्जवम् ॥
ब्रह्मचर्य्य महिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥१४"॥
[वाचिकं-यथा] "अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रिय-हितञ्च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥'
[मानसं, यथा] "मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौन मात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धि रित्येत त्तपो मानस मुच्यते ॥१६॥
तदपि सात्विक-राजस-तामसभेदात्रिविधमेतदग्र एव स्पष्टीकृतमत्र त्यज्यतेऽतस्तत्रैव द्रष्टव्यमिति च प्रार्थ्यते । (तीर्थं)-तरति पापादिकं यस्मात्तत्तीर्थं तॄ-प्लवनतरणयोः--"पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्-" २ । ७ उणा० इति थक् प्रत्ययः । पुण्यस्थानादिकं ।
"तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु ।
अवतारर्षिजुष्टाम्भःस्त्रीरजःसु च विश्रुतम्॥"[कौमुद्युद्धृतविश्वकोशः]
एवं च तीर्थमाहात्म्यं सर्वपुराणप्रसिद्धमपि काशीखण्डस्य षष्ठाध्याये विशेषरूपेण द्रष्टव्यं तथाच तत्रत्यमेवेदं पद्यं यथा—
"प्रभावा दद्भुताद्भूमेः, सलिलस्य च तेजसा ।
परिग्रहा न्मुनीनाञ्च, तीर्थानां पुण्यता स्मृता" ॥ ४४ ॥ इति ।
(ज्ञानयागादिकाः) तत्रादौ ज्ञानं-"मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः"-इत्यमरः । "श्रीभगद्गीतायां" तु एवमुक्तं—
"अमानित्व मदम्भित्व महिंसा क्षान्ति रार्ज्जवम् ।
आचार्य्योपासनं शौचं, स्थैर्य्य मात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य मनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्ति रनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्व-मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्ति रव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्व मरति र्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एत ज्ज्ञान मिति प्रोक्त मज्ञानं यदतो न्यथा ॥" ११ ॥ (१३ अ०)

योगशास्त्रे तु "मोक्षधर्म्मे" एवं निरूपितं तद्यथा—

"एकत्वं बुद्धि-मनसो रिन्द्रियाणाञ्च सर्व्वशः ।
आत्मनो व्यापिन स्तात ! ज्ञान मेतद नुत्तमम्" इति ।

ततो यागो-यज्ञः, यथाहामरः-"यज्ञः सवो ऽध्वरो याग-" इति । स यागो बहुविधो भवति, तत्र श्रौताग्निकृत्यहविर्यज्ञा अग्न्याधानादयः सप्त, स्मार्ताग्निकृत्यपाकयज्ञा औपासनादयः सप्त, श्रौताग्निसप्तसंस्थाः सोमयागादय, एवमुत्तरक्रतवस्तु महाव्रतसर्वतोमुख-राजसूय-पौण्डरीक-अभिजिद्-विश्वजिद्-अश्वमेधादयो बहवः श्रौतसूत्रादिभि र्ज्ञातव्याः । एवञ्च "श्रीभगवद्गीतायाः" च चतुर्थे ऽध्यायेऽपि बहुशो यज्ञविधिवर्णनं तथाच सप्तदशेऽध्याये सात्विकादिभेदत्रयं द्रष्टव्यम् । पञ्चयज्ञाश्च भगवता मनुना प्रोक्ता एव [मनुस्मृतौ चतुर्थाध्याये २१ श्लोकः]—

"ऋषियज्ञं देवयज्ञं, भूतयज्ञ ञ्च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञ ञ्च, यथाशक्ति न हापयेत्" ॥

एवमेव-शिवपुराणे वायुसंहिताया मुत्तरभागे अ० १८ श्लो० ८९-

"कर्मयज्ञ स्तपोयज्ञो, जपयज्ञ स्तदुत्तरः ।
ध्यानयज्ञो ज्ञानयज्ञः, पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिताः" ॥

यज्ञवर्णनादिकं च मत्स्यपुराणस्य ११८ । ११९ अध्याययोः । पद्मपुराणस्य-सृष्टिखण्डे ३१ अध्याये, तथाच कालिकापुराणस्यापि ३० अध्याये, विस्तरशो द्रष्टव्यमिति । यज्ञस्यावश्यकत्वन्तु मनुस्मृतिभगवद्गीताभ्यां सम्मतं सुप्रसिद्धमेव-यथा--

"अग्नौ प्रास्ता हुतिः सम्य गादित्य मुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥" इति ॥

ज्ञानञ्च यागश्च आदिर्यासां ताः—ज्ञानयागादिकाः, अत्र आदि-शब्देन अन्यान्यपि वेदाध्ययनपरोपकारदेवमन्दिरनिर्माणसेतुबन्धौ-षधालयस्थापनादीनि धर्माचरणान्यूह्यानि । ताः क्रियाः कर्माणि (म-हिम्नः स्तवपाठस्य षोडशीं कलां नार्हन्ति) अर्थात् महिम्नस्तोत्र-स्य पाठेन यत्फलं लभ्यते तस्य षोडशांशत्वमपि पूर्वोक्त-दीक्षादाना-दिकर्मभिर्नैव प्राप्यत इति ॥ ३६ ॥

संस्कृत पद्यानुवादः

सुमन्त्रदीक्षा बहुशस्तु दानं, तपः कठोरं शुचितीर्थसेवा ।
ज्ञानार्जनं विश्रुतयज्ञकर्म्म-प्रभृत्यशेषं विहितं विधानम् ॥
शम्भोर्महिम्नः स्तवपाठभू(जा)तां, न षोडशीं याति कलां कदाचित् ।
अतो महिम्नः स्तवपाठ एव, कार्य्यः प्रयत्नादखिलेशभक्तैः ॥ ३६ ॥

भाषा टीका

(दीक्षा) गुरुमुखसे अपने इष्ट देवका मंत्रोपदेश ग्रहण कर-ना—दीक्षा कहाती है । यथा

"संभुमंत्र द्विजवर मोहि दीन्हा,
सुभ उपदेश विविधविधि कीन्हा ।" (तु० रा०)

(दानं) अपना स्वत्व उठाकर देना दान कहा जाता है, यथा—

"प्रकट चारि पद धर्मके, कलि महँ एक प्रधान ।
येन केन विधि दीन्हे, दान करै कल्यान ॥" (तु० रा०)

(तपः) शास्त्रके कथनानुसार क्लेश जनक कर्म तप कहे जाते हैं—यथा—

"करहिं अहार साक फल कंदा, सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानन्दा ।
पुनि हरि हेतु करन तप लागे, वारि अहार मूल फल त्यागे ।
इहिविधि बीते वर्ष षट-सहस वारि आहार ।
संवत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर अधार ॥
वर्ष सहस दस त्यागेउ सोऊ, ठाढे रहे एक पद दोऊ ।" (तु० रा०)

तपके क्लेश जनक होनेसे उसका फलभी क्लेशमय होगा ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंके क्लेश उठानेका फल सुख मिलना प्रत्यक्षसिद्ध है और समस्त तपोंका फल मनोऽभिलषित वस्तुका लाभ ही कहा गया है—यथा

"दुराराध्य पै अहहिं महेसू, आसुतोष पुनि किये कलेसू।
औ तप करहि तुह्मारि कुमारी, भाविहु भेंटि सकैं त्रिपुरारी।"
(तु० रा०)

तपका माहात्म्य और फलभी यों कहा गया है—यथा
"जनि आचर्य करहु मन मांही, सुत! तपते कछु दुर्लभ नांहीं।
तपबलते जग सृजै विधाता, तपबल विष्णु सकल जग त्राता।
तपबल संभु करहि संहारा, तपवल सेष धराहिं महिभारा।
तप अधार सब सृष्टि भुआरा, तपते अगम न कछु संसारा।" (तु०रा०)

(तीर्थं) तीर्थ स्थान प्रसिद्ध हैं, काशी-प्रयाग इत्यादि तीर्थों का माहात्म्य बहुत विस्तृत रूपसे पुराणादिकोंमें पाया जाता है-अत एव इस विषयको ढूंढलेना चाहिए ग्रंथके विस्तार-भयसे विशेष नहीं लिखा जाता।

"तीरथ वर नैमिष विख्याता, अति पुनीत साधक सिधि दाता।"
(तु० रा०)

(ज्ञानं) ईश्वरके समझलेनेहीका नाम ज्ञान है-इस ज्ञानोत्पादनके लिये वेदांत इत्यादि समस्त शास्त्र जाल हैं, गीतामें ज्ञान निरूपण उत्तमरीतिसे किया है।

"कहहिं संत मुनि वेद पुराना, नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।" (तु०रा०)

(यागादिकाः क्रियाः) यज्ञ इत्यादि पवित्र कर्म यथा—
"प्रात कहा मुनिसन रघुराई, निर्भय यज्ञ करहु तुम जाई।
होम करन लागे मुनि झारी, आपु रहे मखकी रखवारी।" (तु० रा०)

(महिम्नः स्तवपाठस्य षोडशीं कलां न अर्हन्ति) ये सब पूर्वोक्त कर्म महिम्न स्तोत्रके पाठकी सोलहवीं कलाकीभी योग्यता नहीं रखते भाव यह कि—इस महिम्नस्तोत्रके पाठसे जो फल मिलता है इन पूर्वोक्त दीक्षा-इत्यादिसे उसका सोलहवां भागभी फल नहीं मिलसकता-अर्थात् रुपयेमें एक आना भी नहीं होसकते॥

भाषापद्यानुवादः

दीच्छा दान सतीर्थ तप, ज्ञान मखा-दिक कर्म।
लहहिं न महिमन पाठकी, कला सोलही भर्म॥ १६॥

भाषाबिम्बम्

दीक्षा दान तपो तीर्थ, ज्ञान जज्ञादि कर्मभी ।
महिम्न पाठके आगे, कला है सोलहीं नहीं ॥ ३६ ॥

---

(१)कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः
शिशुशशिधरमौले र्देवदेवस्य दासः ।
स खलु निजमहिम्नो भ्रष्ट एवा स्य रोषा-
त्स्तवन मिद मकार्षी द्दिव्यदिव्यं महिम्नः ॥३७॥

संस्कृत टीका

(शशिधरवरमौलेः) चन्द्रमौलेः क्वचिच्छिशुशशिधरमौलेरि-त्यपि पाठः स्पष्टार्थ एव । (देवदेवस्य) महादेवस्य (दासः) सेवकः । "भृत्ये दासेयदासेरदासगोप्यकचेटका-" इत्यमरः (सर्वगन्धर्वराजः) सर्वेषां गन्धर्वाणां राजा-"राजाहः सखिभ्य ष्टच्"-५ । ४ । ९१-इति टच्प्रत्ययः । गन्धर्वस्तु देवयोनिविशेषो देवेषु गायको वा-"विद्याधरोऽप्सरो यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनय-" इत्यत्राप्यमर एव । (कुसुमदशननामा) नामोपलक्षणमेत त्तेन पुष्पदन्ताचार्य्य इत्येवाभिप्रायः (अस्यैव) महादेवस्य, एव-इत्यनेन नान्यस्येत्यर्थः । (रोषात् कोपात् (निजमहिम्नः) स्वमहत्त्वात् । अपादाने पञ्चमी । (भ्रष्टः) पतितः सन् (दिव्यदिव्यं) दिवि भवा दिव्या स्तेष्वपि दिव्यं परमोत्तमं (इदं) पूर्वाभिहितं (महिम्नः स्तवनं) महिम्नः स्तोत्रं (सः)उक्ताचार्य्यः (अकार्षीत्) विरचितवान् (खलु) इति निश्चयेन । अत्र महेश्वररोषादेव परिभ्रष्टेन पुष्पदन्ताचार्य्येण शिवतोषार्थमेवेदं महिम्नस्तोत्रं व्यधायीति स्पष्टोऽर्थो भावश्चेति ॥ ३७ ॥

---

(१) महिम्नस्तुतेरेकत्रिंशच्छ्लोका एव श्रीमधुसूदनसरस्वत्याख्ययतिवरैर्व्याख्याताः । ततो द्वात्रिंशदादि षट्त्रिंशत्पर्यन्तं श्लोकान्संगृह्याग्रे व्याख्योपसंहारे 'इमे श्लोकाः स्तोत्रान्तर्गताः सुगमाश्चेति सर्वं भद्रं' इति लिखितमस्ति नाम्नैतानि पद्यानि, तथापि, लोकपाठमनुसृत्यास्माभिरत्र संगृहीतानीति शम् ॥

संस्कृतपद्यानुवादः

गन्धर्व्वराजः स हि (कवि) पुष्पदन्तः,
श्रीचन्द्रमौल्यङ्घ्रिसरोजभृङ्गः (दासः)।
भ्रष्टोऽस्य शापा त्स्वमहत्त्वतोयः (त्स्वमहिम्न एव)
स्तोत्रं महिम्नो विधिवद्व्यधत्त ॥ ३७ ॥

भाषा टीका

(शशिधरवरमौलेः) चन्द्रकलाको मस्तकमें धारण करने वाले (देवदेवस्य) भगवान महादेवका (दासः) सेवक, एवं (सर्वगंधर्व-राजः) समस्त गंधर्वोंके राजा (कुसुमदशननामा) पुष्पदंत नामक कविने (अस्यैव रोषात्) इन्हीं महादेवजीके कोपसे (निजमहिम्नः भ्रष्टः) अपने महत्वसे पतित होकर (इदं दिव्यदिव्यं महिम्नः स्तवनं) इस परमोत्तम महिम्न स्तोत्रको (सः अकार्षीत् खलु) निश्चय करके बनाया।

भाषापद्यानुवादः

राजा सब गंधर्वके, पुष्पदंत विख्यात।
बाल चन्द्रधर-मौलिके, जो सेवक कहिजात॥
महादेवके रोषते, निज महिमा बिनसाय।
सिव महिमाकी स्तुति रची, अतिसय दिव्य बनाय॥३७॥

भाषा बिम्बम्

कुसुमदसनराजा सर्व-गन्धर्व राजा,
ससिधर-प्रभुकेरा भक्ति संजुक्त चेरा।
निज-पद महिमाते भ्रष्ट है रोष याते,
स्तुति शिव महिमाकी दिव्य दिव्यै रची (यहै) की (बनायी)॥३७॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैकहेतुं
पठति यदि मनुष्यः प्राञ्जलि र्नान्यचेताः।
व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः
स्तवन मिद ममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३८ ॥

संस्कृत टीका

(यदि) कदाचित् (प्राञ्जलिः) प्रबद्धकरणसम्पुटः (नान्यचे-

ता:) अनन्यमनस्कः (मनुष्यः) सामान्यमुपलक्षणमेतत् । (इदं) पूर्वविहितं (सुरवरमुनिपूज्यं) सुरवरा इन्द्रादयो देवा, मुनयो वशिष्ठादयस्तैः पूजनीयं, अर्थादिदं स्तोत्रं न केवलैर्मनुष्यैरेव पूजितमस्ति परन्तु देवा मुनयश्चैतेन स्तुवन्तीति भावः । अत एव (स्वर्गमोक्षैकहेतुं) स्वर्गापवर्गयोरेकमात्रं साधनभूतं (पुष्पदन्तप्रणीतं) पुष्पदन्ताभिधानकविना विरचितं (अमोघं) अव्यर्थं, सर्वदैव फलदानोन्मुखं-तेनास्य पाठस्तु कदाचिदपि व्यर्थतां न प्रयाति सर्वथैव यथोक्तमखिलमपि फलमवश्यमेव ददाति, इति सूचितम (स्तवनं) महिम्नः स्तोत्रं (पठति) अध्येति, पाठमात्रं करोतीति वा । तर्हि (किन्नरैः) देवविशेषैः (स्तूयमानः) स्तुत्यः सन् (शिवसमीपं) विभोः पार्श्वं (व्रजति) गच्छति । अर्थादादौ गणत्वमवाप्यान्ते सामीप्याख्यं निर्वाणपदं प्राप्नोतीति भावः । पूर्वपद्येऽत्रापि च मालिनीवृत्तमेव ॥ ३८ ॥

संस्कृत पद्यानुवादः

सुरर्षिवृन्दवन्दितं स्वरादिमोक्षसाधनं (दायकं),
पठत्यमुं स्तवं नरः प्रबद्धहस्तसम्पुटः ।
अनन्यमानसो यदि प्रयाति शम्भुसन्निधिं
समस्तकिन्नरैस्स्तुतः सुपुष्पदन्तनिर्म्मितम् ॥ ३८ ॥

भाषा टीका

(प्राञ्जलिः) दोनों हाथोंको जोडकर (नान्यचेताः) एकाग्रचित्त हो (मनुष्यः) कोईभी मनुष्य (सुरवरमुनिपूज्यं) इन्द्रादिकदेवता और वशिष्ठादिक महर्षियोंसे पूजनीय (स्वर्गमोक्षैकहेतुं) स्वर्ग और मोक्षके एकमात्र साधन (पुष्पदन्तप्रणीतं) पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए (अमोघं) कभी व्यर्थ नहीं होने वाले अर्थात् सदा फलदायक (इदं स्तवनं) इस महिम्नस्तोत्रको (यदि पठति) जो पढ़े तो (किन्नरैः स्तूयमानः [सन्] । किन्नर लोगोंसे स्तुत होता हुआ (शिव समीपं) महादेवके पास (व्रजति) जाता है-अर्थात् यह स्तोत्र अव्यर्थ है इसके पाठसे स्वर्ग और अपवर्ग दोनों ही मिलते हैं वरन सामीप्य नामक परं पद भी इससे प्राप्त हो जाता है-और किन्नर लोग उसकी बड़ाई गाया करते हैं ।

भाषापद्यानुवादः

पूजहिं सुर मुनि जाहि सब, देत स्वर्ग अरु मुक्ति।
एक चित्त ह्वै जोरि कर, जो पढ नर तजि भुक्ति॥
किन्नर गावहिं ताहिको, सो जावै सिव पास।
पुष्पदन्त प्रनीत यह, अस्तुति पुरवति आस॥ ३८॥

भाषा बिम्बम्

सुर मुनि सब पूज्यै स्वर्ग औ मोच्छ मूलै,
स्तुति यहहि अमोघै पुष्पदन्तै रची है।
पढि नर कर जोरे चित्त एकाग्रतासे,
पहुँचत शिव पासैं किन्नरै ताहि गावैं॥ ३८॥

आसमाप्त मिदं स्तोत्रं, पुण्यं गन्धर्वभाषितम्।
अनौपम्यं मनोहारि, शिव मीश्वरवर्णनम्॥ ३९॥

संस्कृत टीका

(गन्धर्वभाषितं) गन्धर्वराजपुष्पदन्ताचार्यकथितं (पुण्यं) पुण्यप्रदं पवित्रमित्यर्थः "पुण्यं धर्मे मनोज्ञे च पावने च प्रयुज्यते" इति मेदिनी। (अनौपम्यं) उपमारहितमद्वितीयत्वात् (मनोहारि) पठतां शृण्वताञ्च जनानां चित्तापहारकं (सर्वे) अखिलमेव (ईश्वरवर्णनं) परमेश्वरमाहिमवर्णनापूर्णं (इदं) पूर्वोक्तं (स्तोत्रं) महिम्नः स्तोत्रं (आसमाप्तम्) आ समन्तात्समाप्तिं गतमिति॥३९॥

संस्कृतपद्यानुवादः

प्रसिद्धमतेच्छ्रीशम्भोर्द्वात्रिंशच्छ्लोकसम्मितम्।
समस्तमीश्वरस्यैव, वर्णनेन समापितम्॥
असमानमिदं स्तोत्र, मभिज्ञानां मनोहरम्।
गन्धर्व्वगीतं गीतेव, पवित्रं पुण्यवर्द्धनम्॥ ३९॥

भाषा टीका

(पुण्यं) परम पवित्र (गन्धर्वभाषितं) गन्धर्वराज-पुष्पदन्ताचार्यका कहा हुआ (अनूपम) उपमारहित (मनोहारि) पढ़ने सुनने वालोंका मन लुभानेवाला (सर्वं ईश्वरवर्णनम्) सब प्रकार ईश्वरहीके वर्णनसे भरा हुआ (इदं स्तोत्रं) यह महिम्न स्तोत्र (आसमाप्तम्) समाप्त हुआ।

भाषापद्यानुवादः

है समाप्त अस्तोत्र यह, ईस्वर बर्नन सर्ब ।
अनुपम पुन्य मनोहरै, जिहि भाष्यो गंधर्ब ॥ ३९ ॥

भाषा बिम्बम्

है समाप्त यही स्तोत्रै, सर्व ईश्वर वर्निकै ।
बे जोड चित्त-हारी है, पुन्य-गंधर्व-भाषितै ॥ ३९ ॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ४० ॥

इति श्रीपुष्पदन्तविरचितं शिवमहिम्नस्तोत्रं संपूर्णम् ।

संस्कृतटीका

(श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन) श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य्यस्यैव मुखकमलाद्बहिर्गतेन । एतेनेयं प्रभोरनादिस्तुतिरिति सूचितं (किल्बिषहरेण) पापपुञ्जविदारकेण (हरप्रियेण) शम्भोः प्रेमास्पदत्वं प्रयातेन (कण्ठस्थितेन) कण्ठस्थेनैवास्य पाठमाहात्म्यमिति ध्वनितं, तेन पुस्तकसाहायेन पाठे कृते न तादृशः फललाभो भवतीति च विज्ञापितम् । (पठितेन) अधीतेन, पाठ्यतां गतेन (समाहितेन) अङ्गीकृतेन, निर्विवादीकृतेन अथवा प्रतिज्ञातेनेति यावत् ।—"सङ्कीर्ण—विदित—संश्रुत—समाहित-उपश्रुत-उपगतम्" —इत्यमरः । समाहिते नेत्यत्र "निष्ठा"— ३ । २ । १०२—इत्यनेन क्तः, ततश्च-"दधातेर्हिः-" ७ । ४ । ४२-इत्यतोहित्वमपि । केचिदत्र समाहितेनेत्यस्य समाहितचित्तेन जनेन पठितेनेति योजयन्ति, तन्न समीचीनं नान्यचेता इत्येव पूर्वोक्तत्वात् । (स्तोत्रेण) महिम्नस्तोत्रपाठेन (भूतपतिः) भूतानां पृथिव्यादीनां देवविशेषाणां वा पतिः स्वामी (महेशः) महाँश्चासौ ईशश्च महेशः (सुप्रीणितः) अत्यन्तप्रसन्नः (भवति) । अस्य स्तोत्रस्य कण्ठस्थपठनमेव महेश्वरप्रसन्नताहेतुः हरप्रियत्वादिति तात्पर्य्यार्थः स्पष्ट एव सिद्धः ।

वसन्ततिलकावृत्तम्-"उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगः-"इतिवृत्तरत्नाकरे ॥४०॥

संस्कृतपद्यानुवादः

श्रीलश्रीपुष्पदन्ताननसरसिजतो निर्गतेन स्तवेन,
पापौघग्रावभेदप्रविततभिदुरेणेश्वरातिप्रियेण।
कण्ठस्थानस्थितेन प्रणिहितमनसोच्चारितेनैव भक्त्या,
देवानामादिदेवो भवति(पशु)भवपतिः प्रीणितोऽतीव शीघ्रम्॥४०॥

महिम्नस्तोत्रेऽस्मिन्परमभगवन्! पद्यखचिता,
द्विधा टीका नारायणपतिमहीदेवरचिता।
मुदे तेऽस्तान्मार्गा-सितदलदशम्यां कुजदिनेऽ-
र्पिता भक्त्या वर्षे ऋतु-रस-निधि-क्षोणि-गणिते ॥ * ॥

भाषा टीका

(श्रीपुष्पदन्त मुखपङ्कजनिर्गतेन) श्रीपुष्पदन्ताचार्यके मुख कमल से निकले हुए (किल्विषहरेण) पापोंके हरण करने वाले (हरप्रियेण) महादेवके बडे प्यारे (समाहितेन) प्रतिज्ञा किये हुए (कण्ठस्थितेन) कण्ठाग्रही (पठितेन) पढे गये क्योंकि पुस्तक देखकर पाठ करने से मन अक्षरों पर लग जाता है जिससे स्तोत्रार्थ का भाव-कभी कभी नष्ट प्राय हो पडता है (स्तोत्रेण) इस महिम्नस्तोत्रसे (भूतपतिः महेशः) समस्तभूतोंके अधिपति महेश्वरदेव (सुप्रीणितः भवति) अत्यन्त प्रसन्न होते हैं-अर्थात् इस स्तोत्रके कंठस्थ पाठ करनेसे महादेवजी बडे ही प्रसन्न होते हैं।

भाषा पद्यानुवादः

पुष्पदंत-मुखकमलते, निसरी अस्तुति जोय।
पाप हरै प्यारी लगै, महादेव को सोय॥
याहि पढै कंस्ठथ जौ, भले समाहित जानि॥
तापै परम प्रसन्नचित्त, होवहि संभु-भवानि ॥ ४० ॥

भाषा बिम्बम्

श्रीपुष्पदन्त मुखपंकजते कढ्यो जो,
स्तोत्रै अघै हरत है हरको पियारो।
कंठस्थ याहि पढिहै, स्थिर चित्त है जो
तापै प्रसन्न रहि हैं नितही महेशो ॥ ४० ॥
इति श्रीः।

बिप्र रमापतिको तनय, नारायन पति नाम ।
सेवत श्री विश्वेश पद, वसत बनारस धाम ॥ १ ॥
संवत रस ऋतु अंक महि, माघ अमावस पर्ब ।
अर्पत यह अनुवाद सब, विनवत "स्वीकुरु शर्ब !" ॥ २ ॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छंकरपादयोः ।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ॥ ४१ ॥
तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर ।
यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः ॥ ४२ ॥
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेन्नरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोके महीयते ॥ ४३ ॥

परीक्षोपयोगी ग्रन्थ

१ रघुवंशम् । महाकविकालिदासविरचितम् 'सञ्जीविनी' तथा 'सुधा' व्याख्या सहित, पं० ब्रह्मशङ्कर मिश्र संपादित, प्रथम सर्ग ३–००
द्वितीय सर्ग ३–००, १–५ सर्ग १५–००, १–२ सर्ग ६–००
२–३ सर्ग ६–००, १–४ सर्ग १२–००, प्रत्येक सर्ग ३–००

२ किरातार्जुनीयम् । महाकविभारवि-विरचितम्, घण्टापथ-सुधा-व्याख्या सहितम्, व्या० पं० गङ्गाधर मिश्र । १–२ सर्ग ६–००, १–३ सर्ग ९–००
प्रथम सर्ग ३–००, द्वितीय सर्ग ३–००, तृतीय सर्ग ३–००

३ मीमांसान्याय प्रकाशः । आपदेव कृत । सं० पं० एं० चिन्नस्वामी शास्त्री कृत 'सारविवेचिनी' संस्कृत व्याख्या सहित २५–००

४ नागानन्दनाटकम् । श्री हर्षदेवविरचितम्, भावार्थदीपिका-संस्कृत हिन्दीटीका सहित, व्याख्या०—आचार्य बलदेव उपाध्याय ६–००

५ मेघदूतम् । कालिदासविरचितम्, सञ्जीवनी-चरित्रवर्द्धिनी-भावबोधिनी-सौदामिनी-व्याख्याचतुष्टयोपेतम् । सम्पादक—पं० श्री ब्रह्मशंकर मिश्र ६–००

६ बृहद्देवता । हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी तथा परिशिष्ट सम्पूर्ण ५०–००
डॉ० रामकुमार राय अध्याय १–२ १०–००

७ व्यक्तिविवेकः । हिन्दी व्याख्या०—डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी ५०–००
प्रथम विमर्श १६–००

८ नलचम्पू अथवा दमयन्ती कथा । त्रिविक्रमभट्ट विरचित, हिन्दी व्याख्या०—कैलासपति त्रिपाठी प्रथम उच्छ्वास ५–००
१–२ उच्छ्वास १०–०० सम्पूर्ण ४०–००

९ काव्यालङ्कार । भामह कृत । पं० बटुक नाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा भूमिका आदि युक्त २५–००

१० कादम्बरी । चन्द्रकला संस्कृत तथा विद्योतिनी हिन्दी टीका, नोट्स, भूमिका आदि सहित । कथामुख पर्यन्त १०–००
आदि से शुकनाशोपदेशान्त ३०-००, प्रथम भाग (पूर्वार्द्ध) ५०–००
द्वितीय भाग (उत्तरार्द्ध) २५-००, संपूर्ण १-२ भाग ७५–००

११ काव्यप्रकाश । मम्मटाचार्य कृत । पं० हरिशंकर शर्मा कृत 'नागेश्वरी' टीका सहित । सं० न्यायोपाध्याय पं० दुण्ढिराज शास्त्री । ३०–००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो. बा. १३९ वाराणसी-२२१००१